प्रकाशकीय

आज से लगभग पैंतालीस वर्ष पूर्व श्रद्धेय उपाध्याय कवि श्री अमर मुनिजी ने जैन-धर्म, दर्शन, संस्कृति, इतिहास और सिद्धान्त का परिचय देने वाली एक महत्वपूर्ण पुस्तक का प्रणयन किया था, जिसे हम 'जैनत्व की झाँकी' के नाम से जानते हैं।

जैन-धर्म के प्राथमिक परिचय से लेकर अनेकान्तवाद, कर्मवाद जैसे गम्भीर विषयों तक की तलस्पर्शी चर्चा, जैन-संस्कृति और इतिहास का विहंगम अवलोकन और जैन-धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का सारग्राही सरल विवेचन यदि कोई पाठक आधुनिक भावभाषा के साथ किसी एक ही पुस्तक में देखना चाहे और उसके लिए उसे सर्वप्रथम यदि किसी पुस्तक का नाम बताया जा सकता है तो वह है 'जैनत्व की झाँकी'।

इस पुस्तक की उपयोगिता जितनी जिज्ञासुओं और विद्यार्थियों के लिए है, उतनी ही उपदेशकों और लेखकों के लिए भी है। हमारा यह विश्वास पिछले वर्षों के अनुभव में स्थिर हुआ है। विभिन्न पाठकों के तथा साहित्यकार और पत्र-पत्रिकाओं के अभिमत से हमारा यह विश्वास बलवान बना है और इसकी बढ़ती हुई माँग तथा विभिन्न भाषाओं में होने वाले अनुवाद इस विश्वास को और भी सुदृढ़ बना रहे हैं।

हिन्दी के अतिरिक्त गुजराती, मराठी, कन्नड़ और तमिल भाषा में भी इसके अनुवाद हो चुके हैं और हो रहे हैं। गुजराती और कन्नड़ भाषा में तो द्वितीय संस्करण भी हो चुके हैं। आशा है, इसका अंग्रेजी अनुवाद भी शीघ्र प्रकाश में आ जाये। अंग्रेजी भाषा के अनुवाद की पिछले वर्षों में कई बार माँग आ चुकी है पर अभी तक कुछ कारणों से यह कार्य रुका हुआ है।

यह नवीन सस्करण पिछले सस्करणो से कुछ भिन्न प्रतीत हो सकता है। कुछ पुराना घटा दिया गया है, कुछ नवीन जोड दिया गया है।

उपाध्याय श्री अमरमुनि ने इसका पुन सूक्ष्म अवलोकन करके महत्वपूर्ण सशोधन और परिवर्धन के द्वारा पुस्तक की युगीन उपयोगिता को जीवित बना दिया है।

अन्त मे हम अपने श्रद्धेय बहुश्रुत विद्वान् उपाध्याय कवि श्री अमरमुनिजी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं। जिन्होने जैन-धर्म के सहस्रो जिज्ञासु पाठको के लिए इस प्रकार की मौलिक और सुन्दर पुस्तक का प्रणयन किया है।

आशा है, यह नवीन सस्करण पिछले सस्करणो से अधिक उपयोगी और जनप्रिय होगा। इसी आशा के साथ ।

ओमप्रकाश जैन
मन्त्री—
सन्मति ज्ञानपीठ,
आगरा

अनुक्रमणिका

जैनत्व की झांकी

—उपाध्याय अमरमुनि

१

साधना का लक्ष्य है जीवन की दिव्यता प्राप्त करना। दिव्यता प्राप्त करने के लिए आदर्श रूप में 'देव' की उपासना और भक्ति आवश्यक है किन्तु इससे पहले यह भी जान लेना चाहिए कि देव किसे कहते हैं।

देव

जैन-धर्म विश्व का एक महान् धर्म है। इसकी आधार शिला भौतिक विजय पर नहीं आध्यात्मिक विजय पर है। यह बाहर का धर्म नहीं अन्दर से आत्मा का धर्म है। अधिक गहराई में न जाकर केवल 'जैन' शब्द पर ही विचार करें तो इस सत्य का मर्म स्पष्ट हो सकता है।

जैन का अर्थ है — 'जिन' को मानने वाला। जो जिन को मानता हो जिन की भक्ति करता हो जिन की आज्ञा में चलता हो और जो अपने अन्दर में जिनत्व के दर्शन करता हो जिनत्व के पथ पर चलता हो वह जैन कहलाता है

'जिन' का अर्थ

प्रश्न हो सकता है 'जिन' किसे कहते हैं। जिन का अर्थ है जीतने वाला। असली शत्रु कौन है? असली शत्रु राग और द्वेष हैं। बाहर के कल्पित शत्रु इन्हीं के कारण पैदा होते हैं।

राग किसे कहते हैं? मनपसन्द चीज पर मोह। द्वेष क्या है? नापसन्द चीज से घृणा। ये राग और द्वेष दोनों साथ रहते हैं। जिसको राग होता है उसे किसी के प्रति द्वेष भी होता है और जिसे द्वेष होता है उसे किसी के प्रति राग भी होता है।

स्याद्वादो वर्तते यस्मिन्,
पक्षपातो न विद्यते ।
नास्त्यन्यपीडनं किंचिद्,
जैनधर्मः स उच्यते ।।

□ □

अनेकान्त की दृष्टि जहाँ है,
और न पक्षपात का जाल ।
मैत्री-करुणा सब जीवों पर,
जैन-धर्म है वह सुविशाल ।।

१

> साधना का लक्ष्य है जीवन की दिव्यता प्राप्त करना। दिव्यता प्राप्त करने के लिए आदर्श रूप में देव की उपासना और भक्ति आवश्यक है किन्तु इससे पहले यह भी जान लेना चाहिए कि देव किसे कहते हैं।

देव

जैन-धर्म विश्व का एक महान् धर्म है। इसकी आधार शिला भौतिक विषय पर नहीं आध्यात्मिक विषय पर है। यह बाहर का धर्म नहीं अन्दर में आत्मा का धर्म है। अधिक गहराई में न जाकर केवल 'जैन' शब्द पर ही विचार करें तो इस सत्य का मर्म स्पष्ट हो सकता है।

जैन का अर्थ है — 'जिन' को मानने वाला। जो जिन को मानता हो जिन की भक्ति करता हो जिन की आज्ञा में चलता हो और जो अपने अन्दर में जिनत्व के दर्शन करता हो जिनत्व के पथ पर चलता हो वह जैन कहलाता है

जिन का अर्थ

प्रश्न हो सकता है 'जिन' किसे कहते हैं। जिन का अर्थ है, जीतने वाला। अन्दरी शत्रु कौन है? अन्दरी शत्रु राग और द्वेष हैं। बाहर के कल्पित शत्रु इन्हीं के कारण पैदा होते हैं।

राग किसे कहते हैं? मनपसन्द चीज पर मोह। द्वेष क्या है? नापसन्द चीज से घृणा। ये राग और द्वेष दोनों साथ रहते हैं। जिसको राग होता है उसे किसी के प्रति द्वेष भी होता है और जिसे द्वेष होता है उसे किसी के प्रति राग भी होता है।

राग और द्वेष ही असली शत्रु क्यों हैं ? इसलिए शत्रु हैं कि ये हमें अनेक प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक दुःख देते हैं, हमें वासना का दास बनाये रखते हैं। हमारा नैतिक पतन करते हैं हमारी आत्मा की आध्यात्मिक उन्नति नहीं होने देते। राग के कारण माया और लोभ उत्पन्न होते हैं और द्वेष के कारण क्रोध, तथा मान उत्पन्न होते हैं। अत क्रोध मान (गर्व), माया (कपट) और लोभ को जीतने वाला ही सच्चा 'जिन' है।

'जिन' के विभिन्न नाम

'जिन' राग और द्वेष से बिल्कुल रहित होते हैं इसीलिए उनका एक नाम 'वीतराग' भी है, चूंकि ये राग और द्वेष रूपी असली शत्रुओं का हनन अर्थात् नाश करते हैं इसलिए ये 'अरिहन्त' भी कहलाते हैं, अरि=शत्रु, हन्त=नाश करने वाला।

'जिन को अर्हत्' भी कहते हैं। अर्हत् का क्या अर्थ है ? अर्हत् का अर्थ है—योग्य। किस बात के योग्य ? पूजा करने के योग्य। महापुरुष राग-द्वेष को जीत कर 'जिन' हो जाते हैं। अत वे संसार के पूजने योग्य हो जाते हैं। पूजा का विशुद्ध अर्थ भक्ति है। अत जो महापुरुष राग द्वेष को जीतने के कारण संसार के लिए पूजा यानी भक्ति करने के योग्य हो जाते हैं वे अर्हत् कहलाते हैं। भक्ति का अर्थ बाहर में कहीं फल, फूल, चन्दन या प्रसाद चढ़ाना आदि नहीं है। भक्ति का अर्थ है—बिना किसी स्वार्थ के दिव्य आत्माओं का सम्मान करना उनके प्रति श्रद्धा रखना और उनके बताये हुए सत्पथ पर चलना।

जिन को 'भगवान्' भी कहते हैं। भगवान् का क्या अर्थ है ? भगवान् का अर्थ है—ज्ञानवाला। राग और द्वेष को पूर्ण रूप से नष्ट करने के बाद केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। केवल ज्ञान के द्वारा जिन भगवान् विश्व के

अतीत अनागत और वर्तमान सब पदार्थों को दर्पण-प्रकाश के समान स्पष्ट रूप से जान लेते हैं।

जिन भगवान को 'परमात्मा' भी कहा जाता है। परमात्मा का अर्थ है परम = शुद्ध आत्मा चेतन। जो परम = शुद्ध आत्मा = चेतन हो वह परमात्मा है। राग-द्वेष को नष्ट करने के बाद ही आत्मा शुद्ध होता है और परमात्मा बनता है।

देव कौन ?

जैन-धर्म संसार के क्रोधी मानी मायावी और लोभी देवताओं को अपना इष्टदेव नहीं मानता है। भला जो स्वयं काम क्रोध आदि के विकारों में फँसे हैं वे दूसरों को विकार रहित होने के लिए क्या आदर्श हो सकते हैं इसलिए जैन धर्म में सच्चे देव वे ही माने गये हैं जो राग-द्वेष को जीतने वाले हों कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट करने वाले हों अनन्त एवं अक्षय ज्ञान वाले हों तथा परम शुद्ध आत्मा हों।

प्रश्न हो सकता है कि इस प्रकार राग और द्वेष के जीतने वाले जिन भगवान् कौन हुए हैं। एक दो नहीं अनन्त हो गए हैं। जानकारी के लिए एक-दो प्रसिद्ध नाम बताए जाते हैं।

वर्तमान काल-चक्र में सबसे पहले 'जिन' भगवान् 'ऋषभ देव' हुए हैं। यह भारतवर्ष की सुप्रसिद्ध अयोध्या नगरी के राजा थे। इन्होंने सर्वप्रथम राजा के रूप में न्याय नीति के साथ प्रजा का पालन किया मानव सभ्यता के आदिम विकासकाल में सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की और बाद में संसार त्याग कर मुनि बने एवं रागद्वेष को क्षय करके जिन भगवान् हो गए, पूर्ण मुक्त हो गए।

भगवान् नेमिनाथ भगवान पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर भी जिन भगवान् थे। ये महापुरुष राग और द्वेष को पूर्ण रूप से नष्ट कर चुके थे

केवलज्ञान पा चुके थे। अपने-अपने समय में इन्होंने जनता में अहिंसा और सत्य की प्राण-प्रतिष्ठा की और राग-द्वेष पर विजय पाने के लिए सच्चे आत्मधर्म का उपदेश देकर आत्मा को परमात्मा बनाने का मार्ग प्रशस्त किया।

व्यक्ति-पूजा या गुण पूजा ?

जैन धर्म व्यक्ति पूजक धर्म नहीं है गुण-पूजक धर्म है। इसलिए वह केवल अपने सम्प्रदाय के ही वीतराग आत्माओं को भगवान मानता हो, यह बात नहीं है। विश्व की जो भी आत्माएँ राग-द्वेष को पूर्ण रूप से जीत कर, क्षय कर [illegible] बन्धन-मुक्त हो जाते हैं। वे जिन भगवान हो जाते हैं। इसीलिए जैन धर्म वीतराग होने पर मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम तथा महावीर श्री हनुमान आदि महापुरुषों को भगवान् मानता है।

२

> अन्धकार में भटकते हुए मनुष्य को किसी ऐसे आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता होती है जो उसे निस्वार्थ भाव से दिव्य प्रकाश का दर्शन करा सके। साधना की भाषा में हम उस पथ-प्रदर्शक को 'गुरु' कहते हैं जिसके स्वयं के जीवन में दिव्य गुणों का प्रकाश उतर चुका हो और जो जन-जीवन को भी उसी प्रकाश की ओर ले चलता हो।

गुरु

मानव-हृदय के अन्धकार को दूर करने वाला कौन होता है यह प्रश्न धर्म और दर्शन के क्षेत्र में अनादि काल से चला आ रहा है। संसार का सबसे सघन अन्धकार मनुष्य के अपने ही मन में है और उस अन्धकार को दूर करना ही धर्म-साधना का एक मात्र लक्ष्य है। यह अन्धकार कौन दूर कर सकता है आइए इस प्रश्न पर विचार करें।

मानव-मन के अज्ञान अन्धकार को दूर करने वाला और ज्ञान का प्रकाश फैलाने वाला गुरु होता है। गुरुदेव के बिना दुनिया के कोने-किनारों में भूले-भटके हुए प्राणी को अन्य कौन सत्य का दर्शन करा सकता है? ज्ञान की आँखें गुरु ही देता है।

परन्तु प्रश्न है कि गुरु कौन होते हैं। सच्चे गुरु का क्या लक्षण है? जैन-धर्म में गुरु किसे कहते हैं? जैन-धर्म में गुरु का महत्त्व बहुत बड़ा है, परन्तु है वह सच्चे गुरु का।

गुरु के लक्षण

जैन-धर्म अन्ध श्रद्धालु धर्म नहीं है जो हर किसी दुनियादार भोग

पाँच महाव्रत

जैन साधुओं के पाँच महाव्रत बतलाये हैं, जो प्रत्येक साधु को चाहे वह छोटा हो या बड़ा अवश्य पालन करने होते हैं —

(१) अहिंसा

मन से वचन से शरीर से किसी भी जीव की हिंसा न स्वयं करना न दूसरों से करवाना न करने वालों का अनुमोदन—समर्थन करना।

(२) सत्य :

मन से वचन से शरीर से न स्वयं झूठ न बोलना न दूसरों से बुलवाना न बोलने वालों का अनुमोदन करना।

(३) अचौर्य

मन से वचन से न स्वयं चोरी करना न दूसरों से करवाना न करने वालों का अनुमोदन करना।

(४) ब्रह्मचर्य

मन से वचन से शरीर से मैथुन—व्यभिचार न स्वयं सेवन करना न दूसरों से करवाना न करने वालों का अनुमोदन करना।

(५) अपरिग्रह

मन से वचन से शरीर से परिग्रह—धन आदि न स्वयं रखना न दूसरों से रखवाना न रखने वालों का अनुमोदन करना।

जैन साधु का जीवन तप और त्याग की सच्ची तसवीर होता है। इतने कठोर नियमों का पालन हर कोई नहीं कर सकता।

यही कारण है कि जैन साधु संख्या में बहुत थोड़े हैं जब कि देश में हर तरह साधुओं की भरमार है। आज छप्पन लाख साधु नामधारियों की फौज

भारत के लिए सिरदर्द बन रही है। अत हर किसी को गुरु नहीं बना लेना चाहिए। कहा है—"गुरु कीजे जान कर, पानी पीजे छान कर।"

जैन धम का गुरुत्व केवल साम्प्रदायिक वेशभूषा तथा बाह्य क्रियाकाण्ड में ही सीमित नहीं है। जैन धम आध्यात्मिक धर्म है, अत उसका गुरुत्व भी आध्यात्मिक भाव ही है। विना किसी देश और काल के वन्धन से, विना किसी साम्प्रदायिक अभिनिवेश के जो भी आत्मा अहिंसा और सत्य आदि की पूण साधना में सलग्न है, अन्तरग मे वीतराग भाव की ज्योति जला रहा है, वह कोई भी हो, जैन धर्म का गुरु है।

पुरुषो के समान स्त्रियाँ भी पाँच महाव्रत पालती हैं। वे साध्वी कहलाती है। साध्वी को भी जैन धर्म गुरु कोटि मे मानता है।

३

> धर्म आत्मा का अनन्त दिव्य प्रकाश है। यह बाहर में नहीं अन्दर में है। परन्तु संसार में धर्म के नाम पर धर्म में अधर्म की मिलावट भी होती रही है जिससे सच्चे धर्म की पहचानना प्रायः कठिन हो जाता है। इसलिए यह जरूरी है कि हम धर्म के असली स्वरूप को समझें और फिर उस पर निष्ठापूर्वक आचरण करें।

धर्म

धर्म का क्या अर्थ है? जो दुःख से दुर्गति से पापाचार से पतन से बचाकर आत्मा को ऊँचा उठाने वाला है धारण करने वाला है वह धर्म है।

सच्चा धर्म क्या है? जिससे किसी को दुःख न पहुँचे —ऐसा जो भी अच्छा विचार और अच्छा आचार है वही सच्चा धर्म है। क्या जैन-धर्म सच्चा धर्म है? हाँ यह अच्छे विचार और अच्छे आचार वाला धर्म है इसलिए सच्चा धर्म है।

जैन-धर्म का क्या अर्थ है? जिन भगवान का कहा हुआ धर्म जैन-धर्म है। जिन भगवान कौन? जो राग-द्वेष को जीत कर पूर्ण पवित्र और निर्मल आत्मा हो गये हैं वे जिन भगवान हैं श्री पार्श्वनाथ महावीर आदि

जैन-धर्म निर्ग्रन्थ धर्म भी है

जैन-धर्म के क्या दूसरे भी कुछ नाम हैं? हाँ अहिंसा-धर्म स्याद्वाद धर्म आर्हत-धर्म निर्ग्रन्थ-धर्म आदि। जैन-धर्म में अहिंसा का बड़ा

भारत के लिए सिरदर्द बन रही है। अत हर किसी को गुरु नहीं बना लेना चाहिए। कहा है—"गुरु कीजे जान कर, पानी पीजे छान कर।"

जैन धर्म का गुरुत्व केवल साम्प्रदायिक वेशभूषा तथा बाह्य क्रियाकाण्ड मे ही सीमित नही है। जैन धर्म आध्यात्मिक धर्म है, अत उसका गुरुत्व भी आध्यात्मिक भाव ही है। बिना किसी देश और काल के बन्धन से, बिना किसी साम्प्रदायिक अभिनिवेश के जो भी आत्मा अहिंसा और सत्य आदि की पूर्ण साधना मे सलग्न है अन्तरग मे वीतराग भाव की ज्योति जला रहा है, वह कोई भी हो, जैन-धर्म का गुरु है।

पुरुषो के समान स्त्रियाँ भी पाँच महाव्रत पालती हैं। वे साध्वी कहलाती है। साध्वी को भी जैन धर्म गुरु कोटि में मानता है।

जैन धर्म का पालन कौन कर सकता है। जैन-धर्म का कोई भी भव्य प्राणी पालन कर सकता है। जैन-धर्म में जाति और देश का प्रतिबन्ध नहीं है। किसी भी जाति का और किसी भी देश का मनुष्य जैन-धर्म का पालन कर सकता है। हिन्दू हो मुसलमान हो ईसाई हो ब्राह्मण हो चाण्डाल ही कोई भी क्यों न हो जो जैन-धर्म का पालन करे अपनी आत्मा को आध्यात्मिक पवित्रता के पथ पर ले चले अन्दर में विमलत्व की ज्योति जगा सके वही जैन है।

जैन-धर्म के मुख्य सिद्धान्त

जैन-धर्म का सिद्धान्त बहुत गम्भीर है। अतः उसका पूरा परिचय तो जैन-धर्म के प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से ही हो सकता है। हाँ संक्षेप में जैन-धर्म के मोटे-मोटे सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

१ जगत अनादि और अनन्त है।
२ आत्मा अजर-अमर है।
३ आत्मा अनन्त है।
४ आत्मा ही परमात्मा होता है।
५ आत्मा चैतन्य है।
६ कर्म जड़ है।
७ आत्मा की अशुद्ध-स्थिति ही संसार है
८ आत्मा की पूर्ण शुद्ध अवस्था ही मोक्ष है।
९ आत्मा की अशुभ प्रवृत्ति पाप है।
१० आत्मा की शुभ प्रवृत्ति पुण्य है।
११ विशुद्ध वीतराग भाव ही मोक्ष धर्म है।
१२ धर्म-साधना में जाति-पाँति का कोई भेद नहीं है।
१३ अहिंसा ही उत्कृष्ट मानव-धर्म है।

महत्व है, इसलिए वह अहिंसा धम है। स्याद्वाद का अर्थ पक्षपात-रहितता है इसलिए पक्षपात-रहित होकर तटस्थ भाव से सत्य का उपासक होने से जैन-धम स्याद्वाद-धम है। 'अहत' जिन भगवान को कहते हैं, इसलिए उनका बताया हुआ धम, आर्हन-धम है। निर्ग्रन्थ का अथ परिग्रह-रहित होता है। जैन-धम परिग्रह का अर्थात् धन-सम्पत्ति के सग्रह-सम्बन्धी मोह का त्याग बतलाता है, इसलिए वह निर्ग्रन्थ-धम है।

जैन-धर्म अनादि है

जैन धम कब से चला ? जैन-धम नया नही चला है, वह अनादि है। अहिंसा और दया ही तो जैन धम है। ससार मे जिस प्रकार दुःख अनादि है, उसी प्रकार जीवो को दुःख से बचाने वाली अहिंसा एव दया भी अनादि है। इसलिए अनादि अहिंसा और दया का विशुद्ध मार्ग ही जैन-धर्म कहलाता है।

जिन भगवान का कहा हुआ धम ही तो जैन-धर्म है, इसलिए अनादि कैसे हुआ ? जिन भगवान किसी खास समय-विशेष में कोई एक व्यक्ति विशेष नहीं हुए हैं। पूवकाल मे राग-द्वेष को जीतने वाले जिन भगवान अनन्त हो गए हैं और भविष्य मे भी अनन्त होते रहेंगे, अत जैन-धम अनादि काल मे चला आता है समय-समय पर होने वाले जिन भगवान उसे अधिकाधिक प्रकाशित करते हैं देश-काल की परिस्थिति के अनुसार उसकी नवीन पद्धति से पुन स्थापना करते है। जिन भगवान जैन-धम के बनाने वाले नही वरन उसका समय-समय पर सुधार करने वाले उद्धारक हैं।

जैन कौन हो सकता है ?

सच्चा जैन किसे कहते हैं ? धर्म का मूल दया है। जो जीवमात्र को अपने समान समझकर उनको हिंसा से बचाता है, प्राणी मात्र के लिए दयाभाव रखता है वह सच्चा जैन है।

धर्म को मानना ही सम्यक्त्व है। जो इस प्रकार के सम्यक्त्व को धारण करे, वह साधक सम्यग्-दृष्टि या सम्यक्त्वी कहलाता है।

सम्यक्-ज्ञान

वस्तु के स्वरूप को यथार्थ रूप से जानना अर्थात् जैसा है वैसा समझना 'सम्यक्-ज्ञान' है। जीव अजीव पाप पुण्य आस्रव संवर, निर्जरा बंध और मोक्ष इन नौ तत्त्वों का यथार्थ रूप से ज्ञान करना सम्यग्-ज्ञान है। सम्यक्-ज्ञान पूर्ण रूप से अरिहन्त-दशा में प्राप्त होता है। जब आत्मा राग द्वेष का क्षय कर केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब वह पूर्ण ज्ञानी हो जाता है।

सम्यक् चारित्र

सम्यग् दर्शन और सम्यक् ज्ञान के अनुसार यथार्थ रूप से अहिंसा एवं सत्य आदि सदाचार का पालन करना ही सम्यक्-चारित्र है। गृहस्थ का सम्यक्-चारित्र अपूर्ण होता है और साधु का सम्यग् चारित्र पूर्ण होता है। साधु के सम्यक् चारित्र की पूर्णता भी केवल ज्ञान होने के बाद मोक्ष में जाने से कुछ समय पहले ही होती है। वीतराग आत्मा की मन वचन और शरीर से पूर्ण निष्प्रकम्प अर्थात् अचंचल स्थिर अवस्था का नाम ही पूर्ण चारित्र है और वह इसी समय प्राप्त कर लेता है।

पहले सम्यग्-दर्शन होता है। सम्यक्-दर्शन के होते ही उसी क्षण सम्यग्-ज्ञान होता है और इसके बाद में सम्यग् चारित्र होता है। सम्यक्-दर्शन अर्थात् सच्ची श्रद्धा के बिना ज्ञान सम्यक्-ज्ञान नहीं होता अज्ञान ही रहता है। और सम्यग्-दर्शन तथा सम्यक्-ज्ञान के बिना चारित्र सम्यग्-चारित्र नहीं होता।

४

जब तक सत्य को समझने की दृष्टि सम्यक् (सही) नहीं होती है तब तक ज्ञान भी सम्यक् (सही) नही हो सकता और जब तक किसी वस्तु का सम्यकज्ञान नही हो जाता, तब तक उस पर सम्यक-आचरण कैसे किया जाय ? और-बिना सम्यक् आचरण किये ससार-सागर को तैरकर पार नहीं किया जा सकता। इसलिए प्रस्तुत निबन्ध में ससार-सागर को तैरने के सम्यक्-साधनों का ज्ञान कराया गया है।

तीन रत्न

तीर्थंकर किसे कहते हैं ?

तीर्थ तैरन साधन को कहते है। जो ससार सागर से स्वय तैरकर, पार होकर अन्य मुमुक्षु भव्य जीवो को तैरने के साधना का उपदेश करता है, तैरने के साधनो का प्रचार करता है, 'तीर्थंकर' है। भगवान महावीर आदि जिन भगवान तीर्थङ्कर कहलाते हैं।

तैरने के साधन

ससार-सागर से तैरने के साधन तीन हैं—(१) सम्यक्-दर्शन (२) सम्यक्-ज्ञान (३) और सम्यक्-चारित्र।

सम्यक् दर्शन

'देव' वीतराग अरिहन्त भगवान, 'गुरु' आत्म-साधक निर्ग्रन्थ साधु, और 'धर्म' अहिसा सत्य आदि आत्मधर्म—इन तीनो की सच्ची श्रद्धा का नाम ही सम्यक-दर्शन है।

सम्यक्-दर्शन का ही दूसरा नाम सम्यक्त्त है। सम्यक्त्व का अर्थ है—सच्चाई। विवेकपूर्वक जाँच-पडताल करके सच्चे देव, सच्चे गुरु सच्चे

धर्म को मानना ही सम्यक्त्व है। जो इस प्रकार के सम्यक्त्व को धारण करे, वह साधक सम्यक्-दृष्टि या सम्यक्त्वी कहलाता है।

सम्यक्-ज्ञान

वस्तु के स्वरूप को यथार्थ रूप से जानना अर्थात् जैसा है वैसा समझना 'सम्यक्-ज्ञान' है। जीव अजीव पाप पुण्य आस्रव संवर, निर्जरा बंध और मोक्ष इन नौ तत्त्वों का यथार्थ रूप से ज्ञान करना सम्यक्-ज्ञान है। सम्यक्-ज्ञान, पूर्ण रूप से वीतराग-दशा में प्राप्त होता है। जब आत्मा राग द्वेष का क्षय कर केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब वह पूर्ण ज्ञानी हो जाता है।

सम्यक् चरित्र

सम्यक्-दर्शन और सम्यक् ज्ञान के अनुसार यथार्थ रूप से अहिंसा एवं सत्य आदि सदाचार का पालन करना ही सम्यक्-चारित्र है। गृहस्थ का सम्यक्-चारित्र अपूर्ण होता है और साधु का सम्यक् चारित्र पूर्ण होता है। साधु के सम्यक् चारित्र की पूर्णता भी केवल ज्ञान होने के बाद मोक्ष में जाने से कुछ समय पहले ही होती है। वीतराग आत्मा की मन वचन और शरीर के पूर्ण निष्प्रकम्प अर्थात् अचंचल स्थिर अवस्था का नाम ही पूर्ण चारित्र है और वह इसी समय प्राप्त कर लेता है।

पहले सम्यक्-दर्शन होता है। सम्यक्-दर्शन के होते ही उसी क्षण सम्यक् ज्ञान होता है और इसके बाद में सम्यक्-चारित्र होता है। सम्यक्-दर्शन अर्थात् सच्ची श्रद्धा के बिना ज्ञान सम्यक्-ज्ञान नहीं होता अज्ञान ही रहता है। और सम्यक्-दर्शन तथा सम्यक्-ज्ञान के बिना चारित्र सम्यक्-चारित्र नहीं होता।

जैन-धर्म मे उक्त सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र को रत्न कहते हैं। आत्मा की अनादिकालीन आध्यात्मिक दरिद्रता इन्ही तीनो के द्वारा मिटती है, अत इन तीनो की 'रत्नत्रय' के नाम से प्रसिद्धि है। वस्तुत आत्मा का यही अन्तरग आध्यात्मिक ऐश्वर्य है। इस अन्तरग ऐश्वर्य के द्वारा ही आत्मा को सच्चा आनन्द प्राप्त हो सकता है।

५

> जब मनुष्य भोग-भूमि में अपनी वैयक्तिक सीमा में बद्ध होकर निर्द्वन्द्व विचर रहा था तब सभ्यता और संस्कृति का प्रश्न उसके सामने नहीं था। उस युग में सामाजिक चेतना को उद्‌बुद्ध करके उसके पुरुषार्थ को लौकिक एवं आध्यात्मिक प्रगति की दिशा में प्रेरित किया भगवान् ऋषभदेव ने। धर्म एवं संस्कृति के प्रथम उपदेशक भगवान् ऋषभदेव की यह जीवन-झांकी देखिए।

भगवान् ऋषभदेव

भगवान् ऋषभदेव कब हुए इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें मानव-सभ्यता के आदिकाल में जाना होगा। वह आदिकाल जब न गाँव बसे थे और न नगर, न खेती-बाड़ी का धन्धा था और न दुकानदारी, न कोई कला थी और न कोई उद्योग। तब लोग वृक्षों के नीचे रहते थे और कन्द-मूल एवं वनफल खाकर जीवन-यापन करते थे। मानव जीवन का कोई महत्त्व उद्देश्य तब की जनता के सामने नहीं था। जीवन सुखमय अवश्य था किन्तु कर्तव्य-शून्य। जैन परिभाषा में यह काल युगलियों का काल था। वर्तमान अवसर्पिणी का तीसरा सुषमा-दुषमा 'आरक' समाप्त होने को था।

भगवान ऋषभदेव इसी युग के जन-नायक अन्तिम कुलकर श्री नाभिराजा के पुत्र थे। उनकी माता का नाम मरुदेवी था। भगवान ऋषभदेव का बाल्यकाल इसी यौगलिक सभ्यता में गुजरा।

ऋषभदेव का युग

काल चक्र बदल रहा था। प्रकृति का वैभव क्षीण होने लगा और

जो वृक्ष थे, वे भी फूल-फल कम देने लगे। इधर उपभोग करने वाली जनसख्या दिन-प्रति-दिन बढ़ रही थी। जीवनोपयोगी साधन कम हो और उनका उपभोग करने वाले अधिक हो, तब बताइए, क्या हुआ करता है? सघर्ष, द्वन्द्व, लडाई-झगडा! शान्त यौगलिक जनता मे सग्रह बुद्धि पैदा हो गई, भविष्य की चिन्ता ने नि स्पृहता एव उदारता कम कर दी और इसके फलस्वरूप आपस मे वैर विरोध, घृणा, द्वेष बढने लगा। निष्क्रिय भोग-भूमि से सक्रिय कर्म-भूमि का आरम्भ काल था यह।

समय को परखने वाले श्री नाभिराजा ने अब जन नेतृत्व का भार अपने सुयोग्य पुत्र ऋषभ को सौंप दिया। बडा कठिन समय था वह। मानव-जाति का भाग्य आशा और निराशा के बीच झूल रहा था। उस समय मानव-जाति को एक सुयोग्य कर्मठ नेता की आवश्यकता थी और वह श्री ऋषभदेव के रूप मे उसे मिल गये।

भगवान ऋषभदेव ने जनता का नेतृत्व बडी कुशलता और योग्यता से किया। उनके हृदय मे मानव-जाति के प्रति अपार करुणा उमड रही थी। मानव जाति को विनाश के भयकर गर्त से बचाने के लिए, उन्होने दिन-रात एक कर दिया। भगवान ने जीवनोपयोगी साधनो के उत्पादन और सरक्षण का सब प्रकार से क्रियात्मक उपदेश दिया। वृक्षो को सीचने की नये वृक्ष लगाने की, अन्न पकाने की व्यापार करने की, पात्र बनाने की वस्त्र बुनने की, रोग-चिकित्सा की, सन्तान के पालन-पोषण आदि की सब पद्धतियाँ बतलाई। गाँव कैसे बसाएँ, नगरो का निर्माण कैसे करें गरमी-सरदी और वर्षा से ये सब कलाएँ जनता को सिखलाई। भारतवर्ष की सवप्रथम नगरी भगवान् ऋषभदेव के

तत्त्वावधान में बसी और उसका नाम विनीता रखा गया जो आगे चल कर अयोध्या के नाम से प्रसिद्ध हुई। उन्होंने मनुष्यों को निस्सहाय व प्रकृतिपुत्रापेक्षी रहने के बदले पुरुषार्थ का पाठ पढ़ाया और प्रकृति को अपने नियन्त्रण में कर उससे मनचाहा काम लेना सिखलाया। प्रकृति पर अधिकार पाने की और मनुष्य की यह सर्वप्रथम विजययात्रा भगवान् ऋषभदेव के नेतृत्व में प्रारम्भ हुई इसलिए जैन इतिहासकारों ने भगवान् ऋषभदेव का दूसरा गुण-सम्पन्न नाम 'आदिनाथ' बताया है।

भगवान् ऋषभदेव पूर्ण युवा हो चुके थे और बड़ी योग्यता से जनता का नेतृत्व कर रहे थे। गृहस्थ धर्म का पूर्ण आदर्श स्थापित करने के लिए अब विवाह का प्रसंग आया। बताया जा चुका है कि युगलियों के युग में मानव-जीवन की कोई विशेष मर्यादा नहीं थी। वह युग सभ्यता की दृष्टि से एक प्रकार से अविकसित युग कहा जा सकता है। उस समय विवाह-संस्कार की प्रथा भी प्रचलित न थी। भगवान् ऋषभदेव ने कर्म भूमि युग के आदर्श के लिए और पारिवारिक जीवन को पूर्ण रूप से व्यवस्थित करने के लिए विवाह-प्रथा को प्रचलित करना उचित समझा। अतएव श्री नाभिराजा और देवराज इन्द्र के परामर्श से ऋषभदेव का विवाह सुमंगला और सुनन्दा नाम की कन्याओं के साथ सम्पन्न हुआ। भारतवर्ष के उस युग में यह प्रथम विवाह था। ऋषभदेव के विवाह का आदर्श जनता में भी फैला और समस्त मानव-जाति सुगठित परिवारों के रूप में फूलने-फलने लगी।

ऋषभदेव का परिवार

सुमंगला के परम प्रतापी पुत्र भरत हुए। वे बड़े ही प्रतिभाशाली और सुयोग्य शासक थे। आगे चलकर इन्होंने अप्रतिम वीर्य से भरत-क्षेत्र

के छह खण्डो पर अपनी विजयपताका फहराई और इस वर्तमान अवसर्पिणीकाल के प्रथम चक्रवर्ती राजा हुए। सुप्रसिद्ध वैदिक पुराण श्रीमद्भागवत के अनुसार इन्हीं भरत चक्रवती के नाम पर हमारा देश भारतवष के नाम से प्रख्यात हुआ।[1]

दूसरी रानी सुनन्दा के पुत्र बाहुबली हुए। बाहुबली अपने युग के माने हुए शूरवीर योद्धा थे। इनका शारीरिक बल उस समय अद्वितीय समझा जाता था। ये बडे ही स्वतन्त्र प्रकृति के युवक थे। जब भरत चक्रवर्ती हूए, तो उन्होंने बाहुबली को भी अपने करदत्त राजा के रूप में अधीन रहने के लिए बाध्य किया, परन्तु वे कब मानने वाले थे। बाहुबली भरत को बडे भाई के रूप मे तो आदर दे सकते थे, परन्तु शासक के रूप मे आदर देना उनकी स्वतन्त्र प्रकृति के लिए सर्वथा असम्भव था। अन्त मे दोनो का परस्पर युद्ध हुआ। बाहुबली ने चक्रवर्ती को द्वन्द्व युद्ध में पछाड कर नीचा दिखा दिया, किन्तु बडे भाई को अपमानित करने के कारण उन्हें तत्काल ही वैराग्य हो आया और परिवार, राज्य, कोष तथा ममत्व का परित्याग कर मुनि बन गए। इस घटना से बाहुबली की स्वतन्त्रता नि स्पृहता, आत्म गौरव, वीरता और धार्मिकता का भली-भाँति पता लग सकता है।

हाँ तो हम भगवान् ऋषभदेव के परिवार की बात कह रहे हैं। भरत और बाहुबली के अलावा उसके अटठानवें पुत्र और भी थे। वे सब के सब बहुत सरल और सन्तोषी थे। भगवान् के चरणो मे

---

१ यथा खलु महायोगी भरतो श्रेष्ठ श्रेण्ठगुण आसीद येनेद भारत वर्षमिति व्यपदिशन्ति।

—श्रीमदभागवत स्कन्ध ५, अध्याय ४

दीक्षित हो गए थे। भगवान् की दो पुत्रियां भी थीं—ब्राह्मी और सुन्दरी। ब्राह्मी सुमंगला की पुत्री थी तो सुन्दरी सुनन्दा की। दोनों ही बहनों का पारस्परिक प्रेम जैन इतिहास में बड़े गौरव की दृष्टि से अंकित किया गया है।

ब्राह्मी और सुन्दरी बहुत ही बुद्धिमती एवं चतुर कन्याएं थीं। भगवान् ऋषभदेव ने अपनी दोनों पुत्रियों को बहुत उच्च कोटि का शिक्षण दिया। ब्राह्मी ने लिपि अर्थात् अक्षर ज्ञान, व्याकरण, छन्द, न्याय, काव्य, अलंकार आदि में विशेष पाण्डित्य प्राप्त किया और सुन्दरी ने गणित-विद्या में असाधारण चमत्कार दिखाया। भगवान् ने सर्वप्रथम पुत्रियों को शिक्षा दी थी इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वे स्त्री-शिक्षा को कितना आवश्यक और प्रधान समझते थे। पुत्र और पुत्रियों में आजकल का सा भेद उन्हें सर्वथा अमान्य था। वे दोनों पर एक-जैसा ही प्रेम रखते थे।

भगवान् ऋषभदेव केवल अक्षर-शिक्षण के ही पक्षपाती नहीं थे वे मानव जीवन के उपयोग में आने वाली कलाओं के शिक्षण को भी बहुत अधिक महत्त्व देते थे। उनके विचारों में गृहस्थ-जीवन के महत्त्व की परिभाषा कला और उद्योग ही थे। अतएव उन्होंने स्त्रियों को चौंसठ कलाओं और पुरुषों को बहत्तर कलाओं का भिन्न-भिन्न रूप से शिक्षण दिया। भगवान् ऋषभदेव इस प्रकार आदि युग के सर्वप्रथम शिक्षाशास्त्री थे जिन्होंने स्त्री और पुरुष—दोनों के लिए शिक्षा में कला और उद्योग का अद्भुत सम्मिश्रण किया।

वर्णव्यवस्था का सूत्रपात

भारतीय प्रजा का संगठन सुव्यवस्थित रूप से रखना ही इस दृष्टि से ऋषभदेव जी ने मानव-जाति को तीन भागों में विभक्त किया—क्षत्रिय

के छह खण्डो पर अपनी विजयपताका फहराई और इस वर्तमा
अवसर्पिणीकाल के प्रथम चक्रवर्ती राजा हुए। सुप्रसिद्ध वैदिक पुरा
श्रीमद्भागवत के अनुसार इन्हीं भरत चक्रवती क नाम पर हमारा दे
भारतवष के नाम से प्रख्यात हुआ।[1]

दूमरी रानी सुनन्दा के पुत्र वाहुवली हुए। वाहुवली अपने युग
माने हुए शूरवीर योद्धा थे। इनका शारीरिक बल उस समय अद्विती
समझा जाता था। ये बडे ही स्वतन्त्र प्रकृति के युवक थे। जब भर
चक्रवर्ती हूए, तो उन्होंने वाहुवली को भी अपने करदत्त राजा के रूप
अधीन रहने के लिए वाध्य किया, परन्तु ये कव मानने वाले थे। वाहुबर
भरत को बडे भाई के रूप मे तो आदर दे सकते थे, परन्तु शासक के र
मे आदर देना उनकी स्वतन्त्र प्रकृति के लिए सर्वथा असम्भव था। अ
मे दोनो का परस्पर युद्ध हुआ। वाहुवली ने चक्रवर्ती को द्वन्द्व युद्ध
पछाड कर नीचा दिखा दिया किन्तु वडे भाई को अपमानित करने
कारण उन्हें तत्काल ही वैराग्य हो आया और परिवार, राज्य, की
तथा ममत्व का परित्याग कर मुनि बन गए। इस घटना से वाहुबली म
स्वतन्त्रता नि स्पृहता, आत्म गौरव, वीरता और धार्मिकता का भली-भाँ
पता लग सकता है।

हाँ तो हम भगवान् ऋषभदेव के परिवार की बात कह रहे हैं
भरत और बाहुबली के अलावा उसके अटठानवें पुत्र और भी थे
वे सब-के सब बहुत सरल और सन्तोषी थे। भगवान् के चरणो

---

१ यथा खलु महायोगी भरतो श्रेष्ठ श्रेष्ठगुण आसीद्, येनेद भारत पमि
व्यपदिशन्ति।

—श्रीमद्भागवत स्कन्ध ५, अध्याय

दीक्षा लेने के बाद वे एकान्त निर्जन सूने वनों में ध्यान लगाकर खड़े रहते। इन दिनों वे अखण्ड मौन रखते थे। किसी से कुछ भी बोलते चालते न थे। और तो क्या एक वर्ष तक को तप साधना में इतने लीन रहे कि शरीर रक्षा के हेतु अन्न-जल भी ग्रहण नहीं किया।

मत-मतान्तरों का उद्भव

श्री ऋषभदेव जी के साथ चार हजार अन्य पुरुषों ने भी दीक्षा ली थी। इनमें भी अनेक लोग प्रतिष्ठित जननायक थे और भगवान् से अत्यधिक घनिष्ठ प्रेम करते थे। वे लोग किसी गम्भीर चिन्तन के बाद आत्म-निरीक्षण की दृष्टि से तो मुनि बने नहीं थे भगवान् के प्रेम के कारण देखा-देखी ही उनके पीछे चल दिये थे। अतएव मुनि-दीक्षा में आध्यात्मिक आनन्द उन्हें न मिल सका। भूख-प्यास के कारण घबरा उठे। भगवान् मौन रहते थे इसलिए इनको पता न चला कि क्या करें और क्या न करें। आखिर मुनि-वृत्ति का मार्ग छोड़कर वे सब लोग जंगल में कुटिया बनाकर रहने लगे और कन्द मूल तथा फल-फूल खाकर गुजारा करने लगे। भारतवर्ष में विभिन्न धर्मों एवं मतों का इतिहास यहीं से प्रारम्भ होता है। भगवान् ऋषभ देव के समय में ही इस प्रकार तीन सौ तिरेसठ मत स्थापित हो चुके थे।

धर्म के मुख्यतया दो अंग हैं—तत्त्व-ज्ञान और आचरण। जब मनुष्य की ज्ञान-शक्ति दुर्बल होती है, तो तत्त्व ज्ञान में गड़बड़ पैदा होता है और इसके फलस्वरूप जड़ चैतन्य पाप-पुण्य बन्ध और मोक्ष आदि के सम्बन्ध में एक-दूसरे से टकराती हुई विभिन्न विचारधाराएँ चल निकलती हैं। जब आचरण-शक्ति क्षीण होती है, तो आचार-सम्बन्धी नियमों को भोग-बुद्धि की तीव्रता के कारण विपरीत रूप दिया जाता है और झूठे तर्कों की आड़ में अपनी दुर्बलता का बचाव किया जाता है। धार्मिक मत-भेदों के प्रक-

वैश्य, और शूद्र। जो लोग अधिक शूरवीर थे शस्त्र चलाने में कुशल थे संकटकाल मे प्रजा की रक्षा कर सकते थे, और अपराधियों को दंड द्वार शिक्षा देकर कुशल शासक बन सकते थे, उन्हे क्षत्रिय पद दिया गया।

जो व्यापार-व्यवसाय तथा कृषि और पशु-पालन आदि मे निपुण थे, वे वैश्य कहलाये। जिन्हे सेवा का कार्य सौपा गया, वे 'शूद्र' कहलाये।

चौथे ब्राह्मण वर्ण की स्थापना, भगवान् के सुपुत्र महाराज भरत ने अपने चक्रवर्ती काल मे की। जो लोग अपना जीवन ज्ञानाभ्यास मे लगाते थे प्रजा को शिक्षा दे सकते थे, समय पर सन्मार्ग का उपदेश करते थे, वे ब्राह्मण कहलाये।

भगवान ऋषभदेव जी ने वर्णों की स्थापना मे कर्म की महत्ता को स्थान दिया था जन्म या जाति को नही। आगे चल कर वर्णाश्रम-धर्म का महत्व बढा तो कर्मणा वर्ण के स्थान पर जन्मना वर्ण के सिद्धान्त को प्रतिष्ठा मिल गई। आज के ये जाति-गत ऊँच-नीच के भेद उसी जातीय अहकार की देन हैं। यौगलिक सभ्यता में तो जातिवाद का नाम तक भी नही था। उस समय, मनुष्य, केवल मनुष्य था, उसके बीच मे कोई भेद की दीवार नही थी

आदि ऋषि

ऋषभदेव जी का हृदय आरम्भ से ही वैराग्य-रस से परिप्लावित था। परन्तु जन-कल्याण की भावना से वे गृहस्थ-दशा मे रह रहे थे और मानव समाज को सुव्यवस्थित बनाने का प्रयत्न कर रहे थे। अब ज्यो ही मानव-जाति व्यवस्थित रूप से सभ्यता के ढाँचे में ढलकर उन्नति के पथ पर अग्रसर होने लगी, तो प्रजा के शासन का भार भरत और बाहुबली आदि सुपुत्रो को दे कर स्वयं ने मुनि-दीक्षा अंगी-कार कर ली।

दीक्षा लेने के बाद वे एकान्त निर्जन सूने वनों में ध्यान लगाकर खड़े रहते। वन दिनों वे बराबर मौन रखते थे। किसी से कुछ भी बोलते-चालते न थे। और तो क्या एक वर्ष तक तो तप साधना में इतने लीन रहे कि शरीर रक्षा के हेतु अन्न-जल भी ग्रहण नहीं किया।

मत-मतान्तरों का उद्भव

श्री ऋषभदेव जी के साथ चार हजार अन्य पुरुषों ने भी दीक्षा ली थी। इनमें भी अनेक लोग प्रतिष्ठित जननायक थे और भगवान् से अत्यधिक घनिष्ठ प्रेम करते थे। वे लोग किसी गम्भीर चिन्तन के बाद आत्म निरीक्षण की दृष्टि से तो मुनि बने नहीं थे भगवान् के प्रेम के कारण देखा-देखी ही उनके पीछे चल दिये थे। अतएव मुनि-दीक्षा में आध्यात्मिक आनन्द उन्हें न मिल सका। भूख-प्यास के कारण घबरा उठे। भगवान् मौन रहते थे इसलिए इनको पता न चला कि क्या करें और क्या न करें। आखिर मुनि-वृत्ति का मार्ग छोड़कर ये उस लोग जंगल में कुटिया बनाकर रहने लगे और कन्द मूल तथा वन-फल खाकर गुजारा करने लगे। भारतवर्ष में विविध धर्मों एवं मतों का इतिहास यहीं से प्रारम्भ होता है। भगवान् ऋषभदेव के समय में ही इस प्रकार तीन सौ तिरेसठ मत स्थापित हो चुके थे।

धर्म के मुख्यतया दो अंग हैं—तत्व-ज्ञान और आचरण। जब मनुष्य की ज्ञान-शक्ति दुर्बल होती है तो तत्व ज्ञान में कपट चोर होता है और इसके फलस्वरूप वह चैतन्य पाप-पुण्य बन्ध और मोक्ष आदि के सम्बन्ध में एक-दूसरे से टकराती हुई विभिन्न विचारधाराएँ बह निकलती हैं। जब आचरण-शक्ति क्षीण होती है तो आचार-सम्बन्धी नियमों को मोद-बुद्धि की तीव्रता के कारण विपरीत कर दिया जाता है और झूठे तर्कों की आड़ में अपनी दुर्बलता का बचाव किया जाता है। धार्मिक मत-भेदों में न म-

ये ही मुख्य कारण होते हैं। दुर्भाग्य से भगवान ऋषभदेव के समय में भी मत विभिन्नता के ये ही दो मुख्य कारण हुए।

वर्षीतप का पारणा

भगवान ऋषभदेव ने बारह महीने तक निरन्तर निराहार रहकर सयम-योग की माधना की। भयकर-से-भयकर प्राकृतिक संकटो को भी उन्होने प्रसन्नचित्त से सहन किया। भगवान् की तितिक्षा बहुत उच्चकोटि पर पहुँच गई थी। परन्तु बारह माम व्यतीत होने पर भगवान् ने विचार किया कि "मै तो इस प्रकार निराहार साधना का लम्बा मार्ग अपना कर आत्म-कल्याण कर सकता हूँ। मुझे तो भूख-प्यास के कष्ट किसी भाँति भी विचलित नही कर सकते। परन्तु मेरे अनुकरण पर चलने वाले दूसरे साधको का क्या होगा ? वे तो इस प्रकार लम्बा तपश्चरण नहीं कर सकेंगे। बिना आहार-यात्रा के साधारण मानव-शरीर टिक भी नहीं सकता। बेचारे चार हजार साधक किस बुरी तरह पथ-भ्रष्ट हो गये हैं। आने वाले साधकों को मार्ग-प्रदर्शन के हेतु मुझे भी आहार लेना चाहिए। अस्तु भगवान ने आहार के लिए नगर मे प्रवेश किया। उस समय की जनता साधुओ को आहार देने की विधि नहीं जानती थी। अत भगवान को मुनि-वृत्ति के अनुकूल निर्दोष आहार की प्राप्ति न हो सकी। सदोष आहार भगवान् ने नही लिया। बहुत से लोग तो भगवान् की सेवा मे हाथी-घोडों की भेंट लाते और बहुत-से रत्नो से भरे थाल भी ले आते। अन्ततोगत्वा हस्तिनागपुर के राजकुमार श्रेयास ने अपने पूर्वजन्म-सम्बन्धी जातिस्मरण ज्ञान से जान कर, निर्दोष आहार के रूप में ईख का रस बहराया। यह ससार-त्यागी मुनियो को आहार देने का पहला दिन था। वैशाख शुक्ला तृतीया—अक्षय तृतीय के रूप मे वह दिन आज भी एक उत्सव के रूप में मनाया जाता है।

प्रथम धर्म प्रवर्तक

भगवान ऋषभदेव नाना प्रकार के तप तपश्चरण करते हुए आत्म-साधना में लीन रहे। जब वे आध्यात्मिक दशा की उच्च कोटि पर पहुँच तो ज्ञानावरण आदि आत्मस्वरूप के बाधक घातिया कर्मों का नाश कर केवल ज्ञान प्राप्त किया। भगवान को केवल ज्ञान एक वट-वृक्ष के नीचे हुआ था अतः आज भी भारत में वट-वृक्ष को बहुत आदर की दृष्टि से देखा जाता है। भगवान ने केवल ज्ञान प्राप्त कर धर्म का उपदेश दिया और साधु तथा गृहस्थ—दोनों का ही कर्तव्य बताया। यह कर्तव्य ही जैन-धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जिन का बताया हुआ धर्म—कर्तव्य जैन-धर्म।

भगवान ऋषभदेव ने स्त्री और पुरुष—दोनों के जीवन का महत्व देते हुए चतुर्विध संघ की स्थापना की—साधु साध्वी श्रावक और श्राविका। भगवान के प्रथम गणधर चक्रवर्ती भरत के पुत्र ऋषभसेन हुए और सबसे प्रमुख आर्यिकाएँ दोनों पुत्रियाँ ब्राह्मी तथा सुन्दरी हुईं।

भगवान का जन्म चैत्र कृष्णा अष्टमी को हुआ था। और मुनि दीक्षा भी चैत्र कृष्णा अष्टमी को ही हुई। केवलज्ञान फाल्गुन कृष्णा एकादशी को और निर्वाण माघ कृष्णा चतुर्दशी को हुआ। आज भी चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन भगवान ऋषभदेव की जयन्ती मनायी जाती है।

भगवान ऋषभदेव मानव-जाति के सर्वप्रथम उद्धारकर्ता थे। भारतीय इतिहास में उनका नाम अजर-अमर रहेगा। भगवान ऋषभदेव केवल जैन-धर्म की ही विभूति न थे प्रत्युत विश्व की विभूति थे। यह उनकी महत्ता का ही फल है कि वैदिक-धर्म ने भी उन्हें अपना अवतार माना है। श्री

---

१ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र में दीक्षा तिथि चैत्र कृष्णा नवमी है।

मद्भागवत मे भगवान ऋषभदेव की महिमा का मुक्त कण्ठ से वर्णन किया गया है। वहाँ लिखा है कि भगवान ऋषभदेव वेदों के भी परम गुरु थे, -'सकल वेद-लोक-देव ब्राह्मण-गवा परमगुरोर्भगवत ऋषभाख्यस्य"।[1] इससे आगे भगवान के अवतार की महत्ता और उपयोगिता बताते हुए लिखा है कि "अयमवतारो रजसोपप्लुत कैवल्योपशिक्षणाय"। भगवान का यह अवतार रजोगुण से व्याप्त लोगों को मोक्ष-मार्ग कि शिक्षा देने के लिए हुआ था। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव की महिमा के स्वर जैन-परम्परा एव वैदिक-परम्परा मे एक समान श्रद्धा के साथ मुखरित हुए हैं।

६

> भगवान् नेमिनाथ करुणा के अवतार माने जाते हैं। राजकुमारी राजुल को ब्याहने को जाते हुए एक करुणा की लहर उनके हृदय में जगत उठी और उससे प्रेरित होकर वे तोरण से ही वापस लौट गये। जीव-दया के निमित्त जिसने अपनी यौवन की समस्त इच्छा और उमंगों का बलिदान कर दिया उस करुणामूर्ति का यह जीवनवृत्त पढ़िए।

भगवान् नेमिनाथ

बात उस पुरातन युग की है जब कि भारत के क्षितिज पर यादव जाति का सितारा चमक रहा था। यह यादव-जाति की ही राष्ट्रीय क्रांति थी कि क्या उद्योग और व्यवसाय की उन्नति के रूप में चारों ओर खुशहाली फैल रही थी और जन-जीवन में सुख शांति एवं समृद्धि की वीणा के हजारों तार एक साथ झंकृत हो रहे थे।

भारत के तत्कालीन इतिहास पर दृष्टि डालते हैं तो इसी महान यादव जाति के दो महापुरुष एक साथ भारत के क्षितिज पर चमकते दिखाई देते हैं। एक हैं अध्यात्म के क्षितिज पर जगमगाते सूर्य करुणा के पुंज भगवान नेमिनाथ और दूसरे हैं राजनीति के आकाश में प्रकाशमान महान ज्योतिर्धर वासुदेव श्रीकृष्ण।

हम आपको यहाँ भगवान नेमिनाथ का परिचय देना चाहते हैं। भगवान नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) जैन-धर्म के बाईसवें तीर्थंकर हैं। उनका जन्म

मदभागवत मे भगवान ऋषभदेव की महिमा का मुक्त कण्ठ से वर्णन किया गया है। वहां लिखा है कि भगवान ऋषभदेव वेदो के भी परम गुरु थे, -सकल वेद-लोक-देव ब्राह्मण-गवा परमगुरोर्भगवत ऋषभाख्यस्य"।[1] इससे आगे भगवान के अवतार की महत्ता और उपयोगिता बताते हुए लिखा है कि "अयमवतारो रजसोपप्लुत कैवल्योपशिक्षणाथ"। भगवान का यह अवतार रजोगुण से व्याप्त लोगो को मोक्ष-माग कि शिक्षा देने के लिए हुआ था। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव की महिमा के स्वर जैन-परम्परा एव वैदिक-परम्परा मे एक समान श्रद्धा के साथ मुखरित हुए हैं।

द्वार पर आ रही थी। राजकुमार रथ में बैठे थे। एक ओर भारत के सम्राट श्रीकृष्ण अनेकों तेजस्वी नरेश एवं यादव राजकुमारों का दल-बल था तो दूसरी ओर उनके स्वागत के लिए भोजवंशी राजा उग्रसेन अपने मित्र राजा एवं सामन्तों तथा पारिवारिक जनों के साथ उपस्थित थे। चारों ओर मंगल गीत गाये जा रहे थे मधुर संगीत की लहरें दूर-दूर तक पवन पर तैरती जा रही थीं स्थान-स्थान पर वन्दनवारें टँगी थीं सौभाग्यवती नारियाँ अरिष्टनेमि पर सुगन्धित पुष्प-वर्षा कर रही थीं।

करुणा उमड़ पड़ी

"यह क्या? इस उत्सव के समय में यह करुण-क्रन्दन क्यों? खुशी के समय में आर्त स्वर कैसा?" —अरिष्टनेमि ने चौंककर इधर उधर देखा।

राजकुमार का रथ थोड़ा और आगे बढ़ा तो एक भयंकर दृश्य उनकी नजरों में कौंध गया। सैकड़ों निरीह मूक पशु छटपटा रहे हैं तथा एक बाड़े में बंदी आर्त-क्रन्दन कर रहे हैं। मौत जैसे उनके सामने खड़ी है और वे सब भयाकुल हैं।

अरिष्टनेमि ने सारथी से रथ रोकने को कहा और पूछा— 'ये मूक पशु यहाँ किस लिए बाँधे गये हैं? ये क्यों छटपटा कर क्रन्दन कर रहे हैं?'

सारथि ने स्पष्ट निवेदन किया— राजकुमार! ये सब आपके विवाहोत्सव के लिए हैं! बरातियों में बहुत-से राजा मांसाहारी भी हैं, उनके भोजन समारंभ के लिए इन पशुओं का वध किया जायेगा।

नेमिकुमार के हृदय पर करारी चोट लगी। 'मेरे विवाह में यह अनर्थ होगा! मेरा एक घर बसाने के लिए हजारों पशुओं की मृत्यु! नहीं! नहीं!

शोरिपुर (वर्तमान आगरा जिला में यमुना तट पर आज के वटेश्वर के पास) के राजा समुद्रविजय के घर हुआ। माता का नाम शिवा देवी।

अरिष्टनेमि के जन्म से पहले समुद्रविजय के सबसे छोटे भाई वसुदेव के घर श्रीकृष्ण का जन्म हो चुका था।

दूल्हा बनकर चले

तत्कालीन भारत का क्रूर शासक मगध नरेश जरासन्ध यादव-जाति के पराक्रम और वैभव से जलकर उस पर तरह-तरह के अत्याचार ढा रहा था। श्रीकृष्ण ने इस आपत्ति से अपनी जाति को बचाने के लिए वहाँ से प्रस्थान करके पश्चिम समुद्र के किनारे सौराष्ट्र प्रदेश में द्वारका नगरी बसाई और वही पर समस्त यादव-जाति वासुदेव श्रीकृष्ण के नेतृत्व मे अपनी उन्नति करने लगी।

अरिष्टनेमि जब युवा हुए तो उनका पराक्रम और तेजस् पूरी यादव-जाति मे अद्भुत दिखाई देने लगा। श्रीकृष्ण अरिष्टनेमि का बहुत सम्मान करते थे। अरिष्टनेमि का स्वभाव बड़ा ही शात, मधुर और कोमल था। उनके मन मे वैराग्य के सस्कार जमे हुए थे इसलिए वे ससार से उदासीन एव विरक्त से रहते। श्रीकृष्ण ने बहुत ही आग्रह करके अरिष्टनेमि को विवाह के लिए तैयार किया। उनका सम्बन्ध उग्रसेन की पुत्री राजीमती से निश्चित हुआ।

राजीमती बहुत ही सुन्दर और चतुर राजकुमारी थी। उसके स्नेहिल और हँसमुख स्वभाव पर हर कोई मुग्ध हो उठता। परिवार मे उसे प्यार से राजुल नाम से भी पुकारा जाता था।

अरिष्टनेमि की बारात राजीमती को व्याहने के लिए राजा उग्रसेन के

जैन-साहित्य के आधार से भी इतना तो निश्चित है कि भगवान् नेमिनाथ नारद आदि एवं श्रीकृष्ण के उपदेशक थे। उन्होंने समय-समय पर वासुदेव श्रीकृष्ण जैसे सम्राटों और सर्व-साधारण जनता को अहिंसा का उपदेश देकर भारतवर्ष में दया और करुणा का प्रचार किया। इतिहास की नवीन खोज अब भगवान् नेमिनाथ को ऐतिहासिक महापुरुष मान चुकी है।

• •

यह नहीं हो सकता। नेमिकुमार के हृदय में करुणा का स्रोत उमड़ पड़ा। उन्होंने करुणाविगलित हृदय से कहा—"सारथि! रथ को मोड़ लो! यह विवाह नही होगा। जाओ, पशुओं को तत्काल बन्धन-मुक्त कर दो।" सारथि ने आज्ञानुसार बाड़ा खोल दिया, सब पशु बन्धन-मुक्त कर दिये गये।

नेमिकुमार का रथ तोरण से वापस लौट गया। चारों ओर चिन्ता छा गई? श्रीकृष्ण आदि ने नेमिकुमार को बहुत समझाया, पर उन्होंने सबके प्रस्ताव अस्वीकार कर दिये। उनके हृदय की करुणा दीप्त हो उठी। वे लौटकर राजमहलों में नहीं रहे सीधे रैवताचल गिरनार पर्वत की गहन कन्दराओं में जाकर आत्म-साधना में लीन हो गये।

उन्होंने तपस्या करके आत्म-शोधन किया। कर्म-मलों का नाश किया और केवलज्ञान प्राप्त करके बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के नाम से संसार में प्रसिद्ध हुए।

अहिंसा के उपदेष्टा

करुणामूर्ति भगवान नेमिनाथ ने अहिंसा और करुणा पर बहुत अधिक बल दिया। सामूहिक भोजनशुद्धि के साथ अहिंसा का सम्बन्ध जोड़ने वाले यही इतिहास पुरुष हैं। वासुदेव श्रीकृष्ण और यादव-जाति को उन्होंने विशेष रूप से अहिंसा के उपदेश द्वारा प्रभावित किया। छांदोग्य उपनिषद् में लिखा है कि देवकी पुत्र श्रीकृष्ण को घोर आंगिरस ऋषि ने अहिंसा धर्म का उपदेश दिया था।' बौद्ध-दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान स्व० धर्मानन्द कौशाम्बी (भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृ० ३८) के मतानुसार वे अहिंसा धर्म के उपदेशक जैन तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ ही थे जो वैदिक-परम्परा में 'घोर आंगिरस' के नाम से प्रसिद्ध रहे हैं।

समझता है। बहुत-से जैनों को स्वयं लेखक ने यह कहते हुए सुना है कि— वे जैन हैं जो पार्श्वनाथ को मानने वाले हैं। राजपूताना आदि प्रदेशों में तो अजैन लोग जैनों को अक्सर दिखाते समय भी भगवान पार्श्वनाथ की शपथ दिलाते हैं। भारतीय इतिहास के जाने हुए विद्वान भी अब पार्श्वनाथ जी की ऐतिहासिकता को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं। पहले के कुछ इतिहासज्ञ विद्वान जैनधर्म का प्रारम्भकाल भगवान महावीर से ही मानते थे परन्तु अब तो एक स्वर से प्रायः सभी विद्वान् जैनधर्म का सम्बन्ध भगवान पार्श्वनाथ से जोड़ने लग गये हैं, कुछ तो इससे भी आगे ऋषभदेवजी तक पहुँच गये हैं। प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुस्तक 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' में तो भगवान् पार्श्वनाथ के इतिहास-काल पर खूब अच्छा प्रकाश डाला गया है।

तत्कालीन परिस्थिति

भगवान् पार्श्वनाथ का समय ईसा से करीब आठ सौ वर्ष पूर्व है। सुप्रसिद्ध काशी राज्य की राजधानी वाराणसी में भगवान पार्श्वनाथ का जन्म हुआ। काशी नरेश अश्वसेन पार्श्वनाथ के पिता और वामादेवी माता थीं। वह युग तापसों का युग था। हजारों तापस आश्रम बनाकर वनों में रहा करते थे और उग्र शारीरिक कष्टों द्वारा तप साधना किया करते थे। कितने ही तपस्वी वृक्षों की शाखाओं में औंधे मुंह लटका करते थे। कितने ही आकंठ जल में खड़े होकर सूर्य की ओर ध्यान लगाया करते थे। कितने ही अपने आपको भूमि में दबाकर समाधि लगाते थे। और कितने ही पंचाग्नि-तप तपकर अपने शरीर को झुलसा डालते थे। अज्ञान-तपस्या का उस समय काफी जोर था। भोली जनता इन्हीं विवेकशून्य क्रिया काण्डों में धर्म मानती थी और इस प्रकार देह दमन का बाजार गरम था।

ईस्वी पूर्व आठ सौ वर्ष ! भारत के आध्यात्मिक जीवन में विवेकशून्य क्रिया-काण्डों और धार्मिक अन्ध-विश्वासों का बोलबाला था। अन्ध-विश्वासों की इन काली घटाओं को चीरकर सहसा एक बाल रवि भारत के अध्यात्मिक क्षितिज पर चमक उठता है चारों ओर सम्यक् ज्ञान का प्रकाश जगमगाने लगता है। इस धर्म क्रान्ति का सजीव चित्र 'भगवान पार्श्व-नाथ' के जीवन में देखिए।

७

भगवान् पार्श्वनाथ

भगवान पार्श्वनाथ वर्तमान काल-चक्र के तेईसवें तीर्थंकर हैं। उनकी प्रख्याति में जन-समाज में कुछ नहीं है। जैन साहित्य का स्तोत्र विभाग अधिकतर उन्हीं के स्तुति-पाठों से भरा पड़ा है। हजारों स्तोत्र उनके नाम पर बने हुए हैं। जिन्हें हजारों नर-नारी बड़ी श्रद्धा भक्ति के साथ नित्यपाठ के रूप में पढ़ते हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की महान् कृति कल्याण-मन्दिर स्तोत्र तो इतना अधिक प्रसिद्ध है कि शायद ही कोई धार्मिक मनोवृत्ति का शिक्षित जैन हो जो उसे न जानता हो।

मूल आगमों में भी भगवान पार्श्वनाथ की कीर्ति-गाथा बड़े श्रद्धाभरे शब्दों में गाई गई है। भगवती सूत्र में बहुत-से स्थलों पर उनका नामोल्लेख मिलता है। और स्वयं भगवान महावीर ने भी उन्हें महापुरुषों की कोटि में स्वीकार करते हुए अतीव सम्मानपूर्ण शब्दों में स्मरण किया है।

जैन समाज ही नहीं अजैन समाज भी पार्श्वनाथ के नाम से खूब परिचित है। एक जमाने में अजैन समाज तो एकमात्र उन्हें ही जैनों का उपास्यदेव

मगधका है। बहुत-से जैनों को स्वयं लेखक ने यह कहते हुए सुना है कि—वे जैन हैं जो पार्श्वनाथ को मानने वाले हैं। राजपूताना आदि प्रदेशों में तो अजैन लोग जैनों को शपथ दिलाते समय भी भगवान पार्श्वनाथ की शपथ दिलाते हैं। भारतीय इतिहास के माने हुए विद्वान भी श्री पार्श्वनाथ जी की ऐतिहासिकता को स्पष्ट रूप में स्वीकार करते हैं। पहले के कुछ इतिहासज्ञ विद्वान जैनधर्म का प्रारम्भकाल भगवान महावीर से ही मानते थे परन्तु अब तो एक स्वर से प्रायः सभी विद्वान् जैनधर्म का सम्बन्ध भगवान पार्श्वनाथ से जोड़ने लग गये हैं कुछ तो इससे भी आगे ऋषभदेवजी तक पहुँच गये हैं। प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुस्तक 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' में तो भगवान पार्श्वनाथ के इतिहास-काल पर खूब अच्छा प्रकाश डाला गया है।

तत्कालीन परिस्थिति

भगवान् पार्श्वनाथ का समय ईसा के करीब आठ सौ वर्ष पूर्व है। सुप्रसिद्ध काशी राज्य की राजधानी वाराणसी में भगवान पार्श्वनाथ का जन्म हुआ। काशी नरेश अश्वसेन पार्श्वनाथ के पिता और वामादेवी माता थीं। वह युग तापसों का युग था। हजारों तापस आश्रम बनाकर वनों में रहा करते थे और उग्र शारीरिक क्रियाओं द्वारा तप साधना किया करते थे। कितने ही तपस्वी वृक्षों की शाखाओं से औंधे मुँह लटका करते थे। कितने ही आकंठ जल में खड़े होकर सूर्य की ओर ध्यान लगाया करते थे। कितने ही अपने आपको भूमि में दबाकर समाधि लगाते थे, और कितने ही पंचाग्नि-तप तपकर अपने शरीर को सुखा डालते थे। इन अग्नि-तापसों का उस समय काफी जोर था। भोली जनता इन्हीं विवेकशून्य क्रिया काण्डों में धर्म मानती थी और इस प्रकार घोर हिंसा का बाजार खूब गरम था।

विचार-क्रान्ति

भगवान् पार्श्वनाथ का वैचारिक सघर्ष अधिकतर इन्ही तापस सम्प्रदाओ के साथ हुआ। वे विवेक-शून्य क्रिया-काण्ड को हेय मानते थे और कहते थे कि "ज्ञानपूर्वक किया गया सम्यक-आचार ही जीवन में क्रान्ति ला सकता है। ज्ञान के बिना उग्र क्रिया-काण्ड करते हुए हजारो वर्ष वीत जाएँ तव भी कुछ नही हो सकता। वहुत वार तो विवेक-शून्य तपश्चरण आत्मा को उन्नत वनाने की अपेक्षा अध पतन की ओर घसीट कर ले जाता है और साधक को किसी काम का नही छोडता।"

कमठ, उस समय का एक महान् प्रतिष्ठा-प्राप्त तापस था। सर्व-प्रथम पार्श्वनाथ की उसी से विचार-चर्चा हुई। कमठ ने वाराणसी के वाहर गंगा-तट पर डेरा डाल रखा था, और पञ्चाग्नि तप के द्वारा हजारो लोगो का श्रद्धा-भाजन बना हुआ था। श्री पार्श्वनाथ इस समय वाराणसी युवराज थे। युवराज पार्श्वकुमार ने इस मिथ्याचार के विषवृक्ष को जड से उखाड फेंकने का विचार किया, और गगा-तट पर तपस्वी से धर्म के सम्बन्ध मे बडी गम्भीर चर्चा करते हुए सत्य के वास्तविक स्वरूप को जनता के समक्ष रखा। तपस्वी की धूनी के एक वडे से पुराने लक्कड में एक विशाल विषधर नाग जल रहा था। राजकुमार पार्श्व ने अपनी सुमधुर वाणी से सद्‌वोध देकर नाग का उद्धार किया। उक्त घटना का जैन-समाज मे वडा भारी महत्व है। श्री हेमचन्द्राचार्य, भावदेव आदि प्राचीन विद्वानो ने स्वरचित पार्श्वचरित्रो मे इस सम्बन्ध में अतीव हृदयग्राही एव विवेचनापूर्ण वर्णन किया है। वर्तमान कालचक्र मे जितने भी तीर्थकर हुए हैं उन सव मे श्री पार्श्वनाथ ही ऐसे हैं, जिन्होने गृहस्थ दशा मे भी

इस प्रकार सार्वभौमिक धर्म-सभाओं में भाग लेकर सत्य के प्रचार का श्रीगणेश किया।

क्षमा का देवता

भगवान् पार्श्वनाथ का साधना-काल बड़ा विलक्षण रहा है। सुना जाता है कि काशी देश के विशाल साम्राज्य को ठुकरा कर मुनिदीक्षा धारण की और इतनी सफल तपस्याराधना की जिसके हर कोई अद्भुत सा महान चमत्कृत हुए बिना नहीं रह सकता। उनका हृदय क्षमा-शीलता से इतना अधिक परिपूर्ण था कि वे भयंकर से भयंकर आपत्तियों में भी मेरु सा अचल-अकम्प रहे और कभी भी हृदय में ग्लानि का भाव नहीं आने दिया।। कमठासुर ने उनको अतीव भीषण कष्ट दिये। परन्तु वे सब पर भी समदृष्टि से क्षमा का शीतल निर्झर ही बहाते रहे। प्रभु के इस उदार स्वभाव पर आचार्य हेमचन्द्र ने त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में क्या ही स्पष्ट लिखा है —

> कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचितं कर्म कुर्वति।
> प्रभुस्तुल्यमनोवृत्तिः पार्श्वनाथः श्रियेऽस्तु वः॥

अर्थात् एक ओर कमठासुर ने आपको महान् कष्ट दिए और दूसरी ओर नागराज धरणेन्द्र ने आपको उपसर्ग से बचा कर महती सेवा भक्ति की परन्तु आपका दोनों ही व्यक्तियों पर एक समान ही सद्भाव था न कमठ पर द्वेष और न धरणेन्द्र पर अनुराग।

चातुर्याम धर्म का उपदेश

श्री पार्श्व प्रभु आरम्भ से ही दया क्षमा एवं शान्ति के अवतार थे। उनकी यह क्षमा-धर्म की साधना इसी जन्म से शुरू नहीं हुई थी। जैन-पुराणों के अनुसार वे भी जन्म से क्षमा का पाठ अपने अन्तस्तल में उतारते आ रहे थे। अपने विरोधी कमठ पर जो निरन्तर कई जन्म तक साथ में रहकर कष्ट देता रहा था कभी भी क्रोध नहीं किया।

अस्तु, उनकी यह साधना अन्तिम जन्म मे पूर्ण शिखर पर पहुँची और वहाँ कैवल्य प्राप्त कर अहिंसा सत्य, अस्तेय और अपरिग्रहरूप चातुर्याम धर्म के साधना-मार्ग का जनता मे सर्वत्र प्रचार किया। विवेकशून्य क्रिया-काण्डो मे उलझी हुई जनता को उन्होने विवेक-प्रधान सदाचार के पथ पर अग्रसर किया और संसार मे अहिंसा की दुन्दुभि फिर से बजाई। श्री पार्श्वनाथ ने क्या किया, इस सम्बन्ध मे मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् श्री धर्मानन्द कौशाम्बी का लेख उद्धृत किए देता हूँ।

श्री कौशाम्बीजी अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'भारतीय-सस्कृति और अहिंसा' मे लिखते हैं—

परीक्षित के बाद जनमेजय हुए और उन्होंने कुरु देश मे महायज्ञ करके वैदिक-धर्म का झण्डा लहराया। उसी समय काशी देश मे पार्श्व एक नवीन सस्कृति की आधारशिला रख रहे थे।"

"श्री पार्श्वनाथ का धर्म सर्वथा व्यवहार्य था। हिंसा, असत्य, स्तेय और परिग्रह का त्याग करना यह चातुर्याम सवरवाद उनका धर्म था। इसका उन्होने भारत मे प्रचुर प्रचार किया। इतने प्राचीन काल मे अहिंसा को इतना सुव्यवस्थित रूप देने का यह प्रथम ऐतिहासिक उदाहरण है।"

' श्री पार्श्व मुनि ने सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह—इन तीन नियमो के साथ अहिंसा का मेल बिठाया। पहले अरण्य मे रहने वाले ऋषि-मुनियो के आचरण मे जो अहिंसा थी, उसे व्यवहार में स्थान न था। अस्तु, उक्त तीन नियमो के सहयोग से अहिंसा सामाजिक, बनी, व्यावहारिक बनी।"

——श्री पार्श्व मुनि ने अपने नये धर्म के प्रचार के लिए संघ बनाया। बौद्ध-साहित्य पर से ऐसा मालूम होता है कि बुद्ध के समय में जो संघ अस्तित्व में थे उनमें जैन साधु तथा साध्वियों का संघ सबसे बड़ा था।"

भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन एवं इतिहास के सम्बन्ध में वर्तमान में और भी अनेक तथ्य प्रकाश में आये हैं जिनसे यह सिद्ध हो चुका है कि श्री पार्श्वनाथ जैन-धर्म के एक ऐतिहासिक एवं क्रान्तिकारी महापुरुष हो गए हैं।

प्रभु ऋषभदेव का समाज विधायक स्वरूप तीर्थंकर नेमिनाथ की करुणा और भगवान् पार्श्वनाथ की धर्मक्रान्ति—तीनों का विराट्-स्वरूप भगवान् महावीर के व्यक्तित्व में प्रकट होता है।
पच्चीस-सौ वर्ष पूर्व के भारत में चलकर उस विराट व्यक्तित्व का दर्शन कीजिए।

८

भगवान महावीर

युग-दर्शन

आइए जरा अपनी स्मृति को पुराने भारत में ले चलें।

किस पुराने भारत में?

यही करीब पच्चीस शताब्दी पुराने भारत में।

हा हन्त! यह सब क्या हो रहा है? लाखों मूक पशुओं की लाशें यज्ञ की बलि-वेदी पर तड़प रही हैं। भोले भाले मानव-शिशु और पकी आयु के वृद्ध भी देव-पूजा के वहम में मौत के घाट उतारे जा रहे हैं। शूद्र भी तो मनुष्य हैं। इन्हें क्या मनुष्यता के सर्वसामान्य अधिकारों से वञ्चित कर दिया गया है। मातृ-जाति का इतना भयंकर अपमान! सामाजिक क्षेत्र में रात दिन की दासता के सिवा इनके लिए और कोई काम ही नहीं? प्रत्येक नदी नाला प्रत्येक ईंट पत्थर, प्रत्येक झाड़-झंखाड़ देवता बना हुआ है। और मूर्ख मानव समाज अपने महान् व्यक्तित्व को भुलाकर इनके आगे दीन भाव से अपना उन्नत मस्तक रगड़ता फिर रहा है। आध्यात्मिक और सांस्कृतिक पतन का इतना भयंकर दृश्य! हृदय काँप रहा है।

जी हाँ यह ऐसा ही दृश्य है। आप देख रही हैं यह, आज से पच्चीस शताब्दी पुराना भारत है और ये सब लोग उस पुराने भारत के निवासी हैं। आज भी इनके तत्कालीन जीवन की झाँकी वेद और पुराणों के पृष्ठों पर अंकित है।

क्या इस युग में भारत का कोई उद्धार-कर्ता नहीं हुआ? क्या उस समय इन दिग्भ्रमित लोगों को समझाने-बुझाने वाला कोई उपदेशक नहीं मिला? क्या अन्ध-विश्वास की इस प्रगाढ़ अन्धकारपूर्ण काल रात्रि में ज्ञान सूर्य का उज्ज्वल आलोक फैलाने वाला कोई महापुरुष अवतरित नहीं हुआ?

अवश्य हुआ।

कौन?

भगवान् महावीर।

यह प्रकृति का अटल नियम है कि जब अत्याचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है अधर्म धर्म का मोहक बाना पहनकर जनता को भ्रम-बन्धन में बाँध लेता है तब कोई-न-कोई महापुरुष समाज राष्ट्र एवं विश्व का उद्धार करने के लिए जन्म लेता ही है। भारत वर्ष की तत्कालीन दयनीय दशा भी किसी महापुरुष के अवतरण की प्रतीक्षा कर रही थी। अतः भगवान् महावीर ने भारत के उद्धार के लिए तत्कालीन विदेह और आज के बिहार प्रदेशवर्ती वैशाली महानगरी के उपनगर क्षत्रियकुण्ड में ज्ञातवंशीय राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला के यहाँ जन्म ग्रहण किया। भारत के इतिहास में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी का वह पवित्र दिन है जो चिरकाल तक मानव से अविस्मरणीय बना रहेगा। भगवान् महावीर के जन्मदिन होने का सौभाग्य इसी पवित्र दिन को प्राप्त हुआ था।

साधना-पथ पर

महावीर राजकुमार थे। सब प्रकार का सांसारिक सुख-वैभव चारो ओर बिखरा पडा था। विवाह हो चुका था। अपने समय की अनुपम सुन्दरी राजकुमारी यशोदा धर्म-पत्नी के रूप मे प्रेम-पूजारिणी बनी हुई थी। दु ख क्या होता है ? कुछ भी पता न था। यह सब कुछ था। परन्तु महावीर का हृदय भी कुछ अनमना-सा उदास-सा रहता था। भारत का धार्मिक तथा सामाजिक पतन उन्हें बेचैन किए हुए था। क्रान्ति की प्रचण्ड ज्वाला अन्दर-ही-अन्दर धधक रही थी। हृदय मन्थन चलता रहा। दो वर्ष तक गृहस्थ-जीवन में ही तपस्वियो-जैसी उग्र साधना चलती रही। अन्ततोगत्वा तीस वर्ष की भरी जवानी में मार्गशिर (मगसिर) कृष्णा दशमी के दिन विदेह की विशाल राज-लक्ष्मी को ठुकरा कर वे पूर्ण अकिंचन भिक्षु बनकर निर्जन वनो की ओर चल पडे।

प्रश्न हो सकता है कि भगवान् महावीर ने भिक्षु होते ही उपदेश की अमृतवर्षा क्यो न की। बात यह है कि महावीर आजकल के साधारण सुधारको जैसी मनोवृत्ति न रखते थे कि जो कुछ मन मे आए, झट-पट कह डाला, करने-धरने को कुछ नही। उनकी तो यह अटल धारणा थी—'जब तक नेता अपने जीवन को न सुधार ले, अपनी दुर्बलताओ पर विजय प्राप्त न कर ले तब तक वह प्रचार-क्षेत्र मे कभी भी सफलता प्राप्त नही कर सकता।" महावीर इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बारह वर्ष तक कठोर तप साधना करते रहे। मानव-समाज से प्राय अलग-अलग सूने जगलों तथा पर्वतों की गहन गुफाओ मे रहकर आत्मा की प्रसुप्त अनन्त आध्यात्मिक शक्तियो को जगाना ही उन दिनो उनका एकमात्र कार्य था। एक से-एक मनमोहक प्रलो-

जब आँखों के सामने से गुजरे, एक-से-एक भयंकर आपत्तियों ने घेरा और चक्कर काटा परन्तु महावीर हिमाचल की भाँति सर्वथा अचल और अडिग रहे। आज जिन घटनाओं के श्रवण-मात्र से हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं वे प्रत्यक्ष रूप से जिस जीवन पर गुजरी होंगी वह कितना महान् होगा!

अहिंसा और सत्य की पूर्ण साधना के बल से जीवन की समस्त कालिमा धुल चुकी थी पवित्रता और स्वच्छता की निर्मल रेखाएँ प्रस्फुटित हो चुकी थीं आत्मा की अनन्त ज्ञान-ज्योति जगमगा उठी थी अतः वैशाख शुक्ला दशमी के दिन ऋजुबालुका नदी के तट पर शाल वृक्ष के नीचे ध्यानमुद्रा में भगवान् महावीर ने केवलज्ञान और केवल दर्शन का अखण्ड प्रकाश प्राप्त किया। अब वे तीर्थंकर की भूमिका पर पहुँच गए।

जैन-धर्म की मान्यता के अनुसार कोई भी मनुष्य जन्म से भगवान् नहीं होता। भगवत्त्व की प्राप्ति के लिए साधना के विकट पथ पर चलना होता है जीवन को निष्काम एवं निष्पाप बनाना होता है। सेवा सद्भाव और संयम की उच्चतम साधना करनी होती है। तब कहीं मनुष्य भगवत्त्व का अधिकारी होता है। भगवान् महावीर का जीवन हमारे समक्ष आध्यात्मिक विकासक्रम का उज्ज्वल आदर्श उपस्थित करता है।

धर्म-क्रान्ति

भगवान् महावीर को जैसे ही केवल ज्योति के दर्शन हुए, वे अपने एकान्त साधनामय जीवन को वन से हटाकर मानव-समाज में ले आए। उन्होंने पतित मानवता के विकास और अभ्युदय के लिए प्रबल आन्दोलन चालू किया। तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक भ्रान्त रूढ़ियों के प्रति वह महान् उग्र अभियान किया कि अन्ध-विश्वासों के सुदृढ़ दुर्ग ढह ढह कर भूमिसात् होने लगे भारत में चारों और शान्ति की वेगवती धारा बह निकली। दम्भ और आडम्बर पर टिके हुए धर्म-गुरुओं के स्वर्ण

साधना-पथ पर

महावीर राजकुमार थे। सब प्रकार का सांसारिक सुख-वैभव चारो ओर बिखरा पड़ा था। विवाह हो चुका था। अपने समय की अनुपम सुन्दरी राजकुमारी यशोदा धर्म-पत्नी के रूप में प्रेम-पूजारिणी बनी हुई थी। दुःख क्या होता है? कुछ भी पता न था। यह सब कुछ था। परन्तु महावीर का हृदय भी कुछ अनमना-सा उदास-सा रहता था। भारत का धार्मिक तथा सामाजिक पतन उन्हें बेचैन किए हुए था। क्रान्ति की प्रचण्ड ज्वाला अन्दर-ही-अन्दर धधक रही थी। हृदय मन्थन चलता रहा। दो वर्ष तक गृहस्थ-जीवन में ही तपस्वियो-जैसी उग्र साधना चलती रही। अन्ततोगत्वा तीस वर्ष की भरी जवानी मे मागशिविर (मगसिर) कृष्णा दशमी के दिन विदेह की विशाल राज लक्ष्मी को ठुकरा कर वे पूर्ण अकिंचन भिक्षु बनकर निर्जन वनों की ओर चल पड़े।

प्रश्न हो सकता है कि भगवान् महावीर ने भिक्षु होते ही उपदेश की अमृतवर्षा क्यो न की। बात यह है कि महावीर आजकल के साधारण सुधारको जैसी मनोवृत्ति न रखते थे कि जो कुछ मन में आए, झट-पट कह डाला, करने-धरने को कुछ नही। उनकी तो यह अटल धारणा थी—"जब तक नेता अपने जीवन को न सुधार ले, अपनी दुर्बलताओ पर विजय प्राप्त न कर ले तब तक वह प्रचार-क्षेत्र मे कभी भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।" महावीर इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बारह वर्ष तक कठोर तप साधना करते रहे। मानव-समाज से प्राय: अलग-अलग सूने जगलों तथा पर्वतो की गहन गुफाओ मे रहकर आत्मा की प्रसुप्त अनन्त आध्यात्मिक शक्तियों को जगाना ही उन दिनो उनका एकमात्र कार्य था। एक से-एक मनमोहक प्रलो-

घन जीवों के सामने से गुजरे, एक-से-एक भयंकर आपत्तियों ने चारों ओर चक्कर काटा परन्तु महावीर हिमालय की भाँति सर्वथा अचल और अडिग रहे। आज जिन घटनाओं के श्रवण-मात्र से हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं वे प्रत्यक्ष रूप से जिस जीवन पर गुजरी होंगी वह कितना महान् होगा !

अहिंसा और सत्य की पूर्ण साधना के बल से जीवन की समस्त कालिमा धुल चुकी थी पवित्रता और स्वच्छता की निर्मल रेखाएँ प्रस्फुटित हो चुकी थीं आत्मा की अनन्त ज्ञान-ज्योति जगमगा उठी थी अतः वैशाख शुक्ला दशमी के दिन ऋजुबालुका नदी के तट पर शाल वृक्ष के नीचे ध्यानमुद्रा में भगवान् महावीर ने केवलज्ञान और केवल दर्शन का अखण्ड प्रकाश प्राप्त किया। अब वे तीर्थंकर की भूमिका पर पहुँच गए।

जैन-धर्म की मान्यता के अनुसार कोई भी मनुष्य जन्म से भगवान् नहीं होता। भगवत्त्व की प्राप्ति के लिए साधना के विकट पथ पर चलना होता है जीवन को निष्काम एवं निष्पाप बनाना होता है। सेवा सद्भाव और संयम की उच्चतम साधना करनी होती है। तब कहीं मनुष्य भगवत्त्व का अधिकारी होता है। भगवान् महावीर का जीवन हमारे समक्ष आध्यात्मिक विकासक्रम का उज्ज्वल आदर्श उपस्थित करता है।

धर्म-क्रान्ति

भगवान् महावीर को जैसे ही केवल ज्योति के दर्शन हुए, वे अपने एकान्त साधनारत जीवन को वन से हटाकर मानव-समाज में ले आए। उन्होंने पतित मानवता के विकास और अभ्युदय के लिए प्रबल आन्दोलन चालू किया। तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक भ्रान्त रूढ़ियों के प्रति यह महान् उग्र अभियान किया कि अन्ध-विश्वासों के सुदृढ़ दुर्ग ढह ढह कर भूमिसात् होने लगे भारत में चारों ओर क्रान्ति की वेगवती धारा बह निकली। दम्भ और आडम्बर पर टिके हुए धर्म-गुरुओं के स्वार्थ

साधना-पथ पर !

महावीर राजकुमार थे। सब प्रकार का सांसारिक सुख-वैभव चारो ओर बिखरा पड़ा था। विवाह हो चुका था। अपने समय की अनुपम सुन्दरी राजकुमारी यशोदा धर्म-पत्नी के रूप मे प्रेम-पूजारिणी बनी हुई थी। दुःख क्या होता है? कुछ भी पता न था। यह सब कुछ था। परन्तु महावीर का हृदय भी कुछ अनमना-सा उदास-सा रहता था। भारत का धार्मिक तथा सामाजिक पतन उन्हें बेचैन किए हुए था। क्रान्ति की प्रचण्ड ज्वाला अन्दर-ही-अन्दर धधक रही थी। हृदय मन्थन चलता रहा। दो वर्ष तक गृहस्थ-जीवन में ही तपस्वियों-जैसी उग्र साधना चलती रही। अन्ततोगत्वा तीस वर्ष की भरी जवानी में मार्गशिर (मगसिर) कृष्णा दशमी के दिन विदेह की विशाल राज-लक्ष्मी को ठुकरा कर वे पूर्ण अकिंचन भिक्षु बनकर निर्जन वनों की ओर चल पड़े।

प्रश्न हो सकता है कि भगवान् महावीर ने भिक्षु होते ही उपदेश की अमृतवर्षा क्यो न की। बात यह है कि महावीर आजकल के साधारण सुधारको जैसी मनोवृत्ति न रखते थे कि जो कुछ मन मे आए, झट-पट कह डाला, करने-धरने को कुछ नहीं। उनकी तो यह अटल धारणा थी—"जब तक नेता अपने जीवन को न सुधार ले, अपनी दुर्बलताओ पर विजय प्राप्त न कर ले, तब तक वह प्रचार-क्षेत्र मे कभी भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।" महावीर इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बारह वर्ष तक कठोर तप साधना करते रहे। मानव-समाज से प्राय अलग-अलग सूने जगलो तथा पर्वतों की गहन गुफाओं मे रहकर आत्मा की प्रसुप्त अनन्त आध्यात्मिक शक्तियों को जगाना ही उन दिनो उनका एकमात्र कार्य था। एक से-एक मनमोहक प्रलो-

जन लोगों के सामने से गुजरे, एक-से-एक भयंकर आपत्तियों ने चारों ओर चक्कर काटा परन्तु महावीर हिमालय की भांति सर्वथा अचल और अडिग रहे। आज जिन यातनाओं के श्रवण-मात्र से हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं वे प्रत्यक्ष रूप से जिस जीवन पर गुजरी होंगी वह कितना महान् होगा !

अहिंसा और सत्य की पूर्ण साधना के बल से जीवन की समस्त कालिमा धुल चुकी थी पवित्रता और स्वच्छता की निर्मल रेखाएँ प्रस्फुटित हो चुकी थीं आत्मा की अनन्त ज्ञान-ज्योति जगमगा उठी थी अतः वैशाख शुक्ला दशमी के दिन ऋजुबालुका नदी के तट पर शाल वृक्ष के नीचे ध्यानमुद्रा में भगवान् महावीर ने केवलज्ञान और केवल दर्शन का अखण्ड प्रकाश प्राप्त किया। अब वे तीर्थंकर की भूमिका पर पहुँच गए।

जैन-धर्म की मान्यता के अनुसार कोई भी मनुष्य जन्म से भगवान् नहीं होता। भगवत्त्व की प्राप्ति के लिए साधना के विकट पथ पर चलना होता है जीवन को निष्काम एवं निष्पाप बनाना होता है। सेवा सद्भाव और संयम की उत्कट साधना करनी होती है। तब कहीं मनुष्य भगवत्त्व का अधिकारी होता है। भगवान् महावीर का जीवन हमारे समक्ष आध्यात्मिक विकासक्रम का उज्ज्वल आदर्श उपस्थित करता है।

धर्म-क्रान्ति

भगवान् महावीर को ज्यों ही केवल ज्योति के दर्शन हुए वे अपने एकान्त साधनारत जीवन को वन से हटाकर मानव-समाज में ले आए। उन्होंने दलित मानवता के विकास और अभ्युदय के लिए प्रबल आन्दोलन चालू किया। तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक भ्रान्त रूढ़ियों के प्रति वह महान् कम्पन आविर्भाव किया कि अन्ध-विश्वासों के सुदृढ़ दुर्ग ढह ढह कर भूमिसात् होने लगे भारत के चारों और शान्ति की वैभवी धारा बह निकली। दम्भ और आडम्बर पर टिके हुए धर्म-गुरुओं के स्वर्ण

सिहासन हिल उठे। उनका विरोध भी बडे जोरो से हुआ। प्राचीनता के पुजारियो ने प्रचलित परम्पराओ की रक्षा के लिए जी-तोड प्रयत्न किये, मनमाने आक्षेप भी किये, परन्तु महापुरुष आपत्तियो को शैलस्थ खलाओं से क्या कभी रुका करते हैं? वे तो अपने निश्चित ध्येय पर प्रतिपल आगे वढते ही रहते हैं, और अन्त मे सफलता के सिंह द्वार पर पहुँच कर ही विश्राम लेते हैं।

धर्म-सघ

भगवान महावीर के अहिंसा-प्रधान तथा सदाचारमूलक धर्मोपदेश ने भारत की काया-पलट कर दी। हिंसक विधि-विधानो मे लगे हुए वडे दिग्गज विद्वान् भी भगवान् के चरणो के पुजारी वन गए। इन्द्र-भूति गौतम जो अपने समय के एक धुरन्धर दार्शनिक, साथ ही-साथ क्रिया-काण्डी ब्राह्मण माने जाते थे, पावापुर मे विशाल यज्ञ का आयोजन कर रहे थे। भगवान् महावीर की पहली तत्त्व-चर्चा इन्ही के साथ हुई। गौतम पर उनके दिव्य ज्ञान-प्रकाश एव अखण्ड तपस्तेज का वह विलक्षण प्रभाव पडा कि वे सदा के लिए यज्ञवाद का पक्ष त्याग कर भगवत्पद-कमलो में दीक्षित हो गये। इनके साथ ही चार हजार चार सौ (४४००) अन्य ब्राह्मण विद्वानो ने भी भगवान् के पास मुनि-दीक्षा धारण की। भगवान् के अहिंसा धर्म की यह सबसे पहली विजय थी जिसने भारत की चिर-निद्रित आँखे खोल दी। उक्त घटना के बाद भगवान् महावीर जहाँ भी पधारे धर्म-पिपासु जनता समुद्र की भाँति उनकी ओर उमडती चली गई।

भोग विलास मे सर्वथा और सतत लिप्त रहने वाले धनी नौजवानो पर भी प्रभु के अपूर्व वैराग्य का बडा गहरा प्रभाव पडा। बडे बडे राजा-महाराजाओ तथा सेठ-साहूकारो के सुकुमार पुत्र भी भगवान् महावीर के चरणो मे दीक्षित होकर तप, तितिक्षा त्याग और सदाचार का सन्देश

लिये मील-मील घूमते रहे। मगध-सम्राट् श्रेणिक की उन महारानियों को जो कभी पुष्पशय्या से नीचे पैर तक न रखती थीं जब हम भिक्षुणियों के रूप में आचरण करते हुए भिक्षा मांगते हुए और जनता को धर्म सिखा देते हुए कल्पना के चित्र-पट पर लाते हैं, तो हमारा हृदय सहसा हर्ष से गद्-गद् हो उठता है। राजगृह के धन्ना और शालिभद्र जैसे धन-कुबेरों के जीवन परिवर्तन की कथाएँ क्रूर-से-क्रूर लोगों के हृदय को भी परिवर्तित कर देने वाली हैं।

नारीजाति के उद्धारक

भगवान् महावीर मातृ-जाति के प्रति भी बड़े उदार विचार रखते थे। उनका कहना था कि 'पुरुष के समान ही स्त्री को भी प्रत्येक धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में बराबर का अधिकार है। स्त्री जाति को हीन एवं पतित समझना निरी भ्रान्ति है।' अतएव भगवान् ने भिक्षु संघ के समान ही भिक्षुणियों का भी एक संघ बनाया जिसकी अधिनेत्री 'चन्दनबाला' थी जो अपने संघ की सब प्रकार की देख-रेख स्वतन्त्र रूप से किया करती थी। भगवान् बुद्ध ने भी भिक्षुणी-संघ की स्थापना की थी परन्तु वह स्वयं नहीं आनन्द के अत्याग्रह से गौतमी पर दया लाकर। उनका विचार इस सम्बन्ध में कुछ और ही था।

भगवान् महावीर के संघ में जहाँ भिक्षुओं की संख्या चौदह हजार थी वहाँ भिक्षुणियों की संख्या छत्तीस हजार थी। श्रावकों की संख्या १ ५६ थी तो श्राविकाओं की संख्या १ १८ थी। स्त्री-जाति के लिए भगवान् के धर्म-प्रवचन में कितना महान् आकर्षण था इसकी एक निर्णयात्मक कल्पना इन संख्याओं द्वारा की जा सकती है।

जाति समभाव धर्म

भगवान् महावीर के द्वारा तत्कालीन शूद्र जातियों को भी उत्थान का महान् अवसर प्राप्त हुआ। वे जहाँ भी गए, सर्वत्र सर्वप्रथम एक

ही सन्देश लेकर गए कि—"मनुष्य-जाति एक है उसमें जात-पांत की दृष्टि से विभाग की कल्पना करना किसी भी प्रकार उचित नहीं। ऊँच-नीच के सम्बन्ध में उनके विचार कर्ममूलक थे, जाति-मूलक नहीं। उनका उपदेश था कि मनुष्य जाति से नहीं, कर्म से ही ऊँच-नीच होता है। यह बात नहीं थी कि, वे आजकल के उपदेशको के समान एक मात्र उपदेश देकर ही रह गए हो। हरिकेशवल जैसे चाण्डालो को भी अपने भिक्षु-सघ में सम्मानपूर्ण अधिकार देकर, उन्होंने जो कुछ कहा, वह करके भी दिखाया। आगम-साहित्य में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता, जहाँ वे किसी राजा, महाराजा अथवा ब्राह्मण या क्षत्रिय के हमलो में विराजे हो। हाँ, पोलासपुर मे सद्दाल कुम्हार के यहाँ विराजना उनकी पतित-पावनता का वह उज्जवल आदर्श है, जो कोटि-कोटि युगों तक अजर-अमर रहकर संसार को समता और दीन-बन्धुता का पाठ पढ़ाता रहेगा।

सर्वतोन्मुखी जीवन

भगवान् महावीर के जीवन के सम्बन्ध में क्या कुछ कहा जाय। उनका जीवन एकमुखी नहीं, सर्वतोन्मुखी था। हम उन्हें किसी एक ही दिशा मे बढ़ते नहीं पाते, प्रत्युत जिस क्षेत्र में भी देखते हैं, वे सबसे आगे और आगे दिखलाई देते हैं। आगम-साहित्य तथा तत्कालीन अन्य साहित्य पर दृष्टिपात कर जाइए। आप भगवान् महावीर को कहीं विलासी एवं अत्याचारी राजाओ को धर्म-परायण बनाते पाएँगे, तो कही दीन दरिद्र गृहस्थो को पापाचार से बचाते पायेंगे। कहीं भिक्षुओ के लिए वैराग्य का समुद्र बहाते पाएँगे, तो कही गृहस्थो के लिए नीति-मूलक शिक्षाएं देते पाएँगे, कहीं प्रौढ विद्वानो के साथ गम्भीर तत्व-चर्चा करते पाएँगे, तो कही साधारण जिज्ञासुओ को

कथाओं के माध्यम से कहीं परम धर्म-प्रवचन सुनाते पाएँगे। कहीं गणधर गौतम जैसे प्रिय शिष्यों पर प्रेम की अमृत-वर्षा करते पाएँगे तो कहीं उन्हीं को गलती कर देने के अपराध में स्पष्ट परितोष भी सुनाते पाएँगे। बात यह है कि भगवान् को जहाँ कहीं भी जिस किसी भी रूप में हम पाते हैं सर्वथा अलौकिक एवं अद्भुत पाते हैं।

भगवान् महावीर के महान् जीवन की झाँकी वर्णमाला के सीमित अक्षरों में नहीं दिखलाई जा सकती। भगवान् महावीर का जीवन न कभी पूरा लिखा गया है और न कभी लिखा जा सकेगा। अनन्त आकाश के वक्ष में असंख्य विहंगम उड़ानें भर चुके हैं पर आकाश की इयत्ता का पता किसे है? अतः यह प्रयास मात्र भगवान् के चरणों में श्रद्धांजलि अर्पित करने और जिज्ञासुओं को उनके दिव्य एवं विराट् जीवन की केवल एक हल्की-सी झाँकी दिखाने के लिए है।

● ●

ही सन्देश लेकर गए कि—"मनुष्य-जाति एक है, उसमें जात-पाँत की दृष्टि से विभाग की कल्पना करना किसी भी प्रकार उचित नहीं। ऊँच-नीच के सम्बन्ध मे उनके विचार कर्ममूलक थे, जाति-मूलक नहीं। उनका उपदेश था कि मनुष्य जाति से नही, कर्म से ही ऊँच-नीच होता है। यह बात नहीं थी कि, वे आजकल के उपदेशको के समान एक मात्र उपदेश देकर ही रह गए हों। हरिकेशबल जैसे चाण्डालो को भी अपने भिक्षु-सघ में सम्मानपूर्ण अधिकार देकर, उन्होंने जो कुछ कहा, वह करके भी दिखाया। आगम-साहित्य मे एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता, जहाँ वे किसी राजा, महाराजा अथवा ब्राह्मण या क्षत्रिय के हमलो मे विराजे हो। हाँ, पोलासपुर मे सद्दाल कुम्हार के यहाँ विराजना उनकी पतित-पावनता का वह उज्जवल आदर्श है, जो कोटि-कोटि युगो तक अजर-अमर रहकर ससार को समता और दीन-बन्धुता का पाठ पढ़ाता रहेगा।

सर्वतोन्मुखी जीवन

भगवान् महावीर के जीवन के सम्बन्ध में क्या कुछ कहा जाय। उनका जीवन एकमुखी नहीं, सर्वतोन्मुखी था। हम उन्हें किसी एक ही दिशा मे बढ़ते नहीं पाते, प्रत्युत जिस क्षेत्र में भी देखते हैं, वे सबसे आगे और आगे दिखलाई देते हैं। आगम-साहित्य तथा तत्कालीन अन्य साहित्य पर दृष्टिपात कर जाइए। आप भगवान् महावीर को कहीं विलासी एव अत्याचारी राजाओ को धर्म-परायण बनाते पाएँगे, तो कही दीन दरिद्र गृहस्थो को पापाचार से बचाते पायेंगे। कहीं भिक्षुओ के लिए वैराग्य का समुद्र बहाते पाएँगे, तो कही गृहस्थो के लिए नीति-मूलक शिक्षाएँ देते पाएंगे, कही प्रौढ़ विद्वानों के साथ गम्भीर तत्व-चर्चा करते पाएँगे, तो कही साधारण जिज्ञासुओ को

तीर्थंकर की परिभाषा

यों तो जैनधर्म में यह शब्द किस अर्थ में व्यवहृत हुआ है और इसका क्या महत्व है यह देखने की बात है। तीर्थंकर का शाब्दिक अर्थ होता है—तीर्थ को कर्ता अर्थात् बनाने वाला। 'तीर्थ' शब्द का जैन-परिभाषा के अनुसार मुख्य अर्थ है—धर्म। संसार-समुद्र से आत्मा को तिराने वाला एकमात्र अहिंसा एवं सत्य आदि धर्म ही है अतः धर्म को तीर्थ कहना शब्द शास्त्र की दृष्टि से उपयुक्त ही है। तीर्थंकर अपने समय में संसार-सागर से पार करने वाले धर्म-तीर्थ की स्थापना करते हैं अतः वे तीर्थंकर कहलाते हैं। धर्म के आचरण करने वाले साधु साध्वी श्रावक—गृहस्थ पुरुष और श्राविका—गृहस्थ स्त्री-रूप चतुर्विध संघ को भी गौण दृष्टि से तीर्थ कहा जाता है। अतः चतुर्विध धर्म-संघ की स्थापना करने वाले महापुरुषों को भी तीर्थंकर कहते हैं।

जैन-धर्म की मान्यता है कि जब-जब संसार में अत्याचार का राज्य होता है प्रजा दुराचारों से उत्पीड़ित हो जाती है जीवों में धार्मिक भावना क्षीण होकर पाप भावना और पकड़ लेती है तब-तब संसार में तीर्थंकरों का अवतरण होता है और वे संसार की मोह-माया का परित्याग कर, त्याग और वैराग्य की अखण्ड साधना में रमकर अनेकानेक भयंकर कष्ट उठाकर, पहले स्वयं सत्य की पूर्ण ज्योति का दर्शन करते हैं—जैन परिभाषा के अनुसार केवलज्ञान प्राप्त करते हैं और फिर मानव-संसार को धर्मोपदेश देकर उसे असत्य प्रपंच के चंगुल से छुड़ाते हैं। सत्य के पथ पर चलाते हैं और संसार में सुख-शान्ति का आध्यात्मिक साम्राज्य स्थापित करते हैं।

तीर्थंकरों के शासन-काल में प्रायः प्रत्येक भव्य स्त्री-पुरुष अपने आपको पहचान लेता है और स्वयं सुखपूर्वक जीना दूसरों को सुख-पूर्वक जीने देना और तथा दूसरों को सुखपूर्वक जीने देने के लिए अपने सुखों की कुछ भी परवाह न करके अधिक-से-अधिक सहायता देना'—इस महान् सिद्धान्त

जैनधर्म के चार महान् तीर्थंकरों के सम्बन्ध में आप पढ़ चुके हैं किन्तु वर्तमान काल-चक्र मे तीर्थंकर चार ही नहीं चौबीस हुए हैं।
प्रस्तुत निबन्ध में आप पढ़िए तीर्थंकरों का स्वरूप और उनका परिचय।

९

जैन तीर्थंकर

तीर्थंकर कौन होते हैं ?

'तीर्थंकर' जैन साहित्य का एक मुख्य पारिभाषिक शब्द है। यह शब्द कितना पुराना है इसके लिए इतिहास के फेर मे पडने की जरूरत नही। आजकल का विकसित से विकसित इतिहास भी इसका प्रारम्भ काल पा सकने मे असमर्थ है। और एक प्रकार से तो यह कहना चाहिए कि यह शब्द इतिहास की उपलब्ध सामग्री से है भी बहुत दूर परे की चीज।[1]

जैन धर्म के साथ उक्त शब्द का अभिन्न सम्बन्ध है। दोनो को दो अलग-अलग स्थानो मे विभक्त करना, मानो दोनो के वास्तविक स्वरूप को ही विकृत कर देना है। जैनो की देखा देखी यह शब्द अन्य पन्थो मे भी कुछ कुछ प्राचीन काल मे व्यवहृत हुआ है, परन्तु वह सब नही के बराबर है। जैनो की तरह उनके यहाँ यह एक मात्र रूढ एव उनका अपना निजी शब्द बन कर नही रह सका।

---

१ देखिए बौद्ध साहित्य का 'लंकावतार सूत्र'।

५. माया—कपट।

६ लोभ।

७ रति—मन पसन्द वस्तु के मिलने पर हर्ष।

८ अरति—अमनोज्ञ वस्तु के मिलने पर खेद।

९ निद्रा।

१० शोक।

११ अलीक—झूठ।

१२ चौर्य—चोरी।

१३ मत्सर—डाह।

१४ भय।

१५ हिंसा।

१६ राग—आसक्ति।

१७ क्रीड़ा—खेल-तमाशा व नाच रंग।

१८ हास्य—हँसी-मज़ाक।

जब तक मनुष्य इन अठारह दोषों से सर्वथा मुक्त नहीं होता तब तक वह आध्यात्मिक शुद्धि के पूर्ण विकास के पद पर नहीं पहुँच सकता। ज्यों ही वह अठारह दोषों से मुक्त होता है त्यों ही आत्म शुद्धि के महान् और ऊँचे शिखर पर पहुँच जाता है तथा केवलज्ञान एवं केवल-दर्शन के द्वारा समस्त विश्व का ज्ञाता-द्रष्टा बन जाता है। तीर्थंकर भगवान् इन अठारह दोषों से सर्वथा रहित होते हैं। एक भी दोष उनके जीवन में नहीं रहता।

को अपने जीवन मे उतार लेता है। अस्तु, तीर्थंकर वह है, जो ससार को सच्चे धम का उपदेश देता है, आध्यात्मिक तथा नैतिक पतन की ओर ले जाने वाले पापाचारो से बचाता है, ससार को भौतिक सुखो की लालसा से हटाकर अध्यात्म-सुखो का प्रेमी बनाता है, और बनाता है, नरक-स्वरूप उन्मत्त एव विक्षिप्त ससार को सत्य, शिव, सुन्दर का स्वर्ग !

तीर्थकर के लिए लोक-भाषा मे यदि कुछ कहना चाहें तो उन्हें अध्यात्म-मार्ग के सर्वोत्कृष्ट नेता कह सकते हैं। तीर्थंकरो की आत्मा पूर्ण विकसित होती है फलत उनमें अनन्त आध्यात्मिक शक्तियाँ पूणतया प्रकट हो जाती हैं। उन्हें न किसी से राग होता है और न किसी से द्वेष। समस्त ससार को वे मित्रता की दृष्टि से देखते हैं, और वनस्पति आदि स्थावर जीवो से लेकर जगम प्राणि-मात्र के प्रति प्रेम और करुणा भाव रखते हैं। यही कारण है कि उनके समवसरण मे सप और नकुल, चूहा और बिल्ली, मृग और सिंह आदि जन्म जात शत्रु प्राणी भी द्वेष-भाव को छोड कर बडे प्रेम व भ्रातृ-भाव के साथ पूण शान्त अवस्था मे रहते हैं। उनकी ज्ञान-शक्ति अनन्त होती है। विश्व का कोई भी रहस्य ऐसा नहीं रहता, जो कि उनके ज्ञान मे न देखा जाता हो। उनका जीवन अठारह दोषो से मुक्त, विशुद्ध एवं पवित्र होता है।

अष्टादश दोष

जैन-धम मे मानव-जीवन की दुबलता के अर्थात् मनुष्य की अपूर्णता के सूचक निम्नोक्त अठारह दोष माने गये है—

१ मिथ्यात्व=असत्य विश्वास।

२ अज्ञान।

३ क्रोध।

४ मान।

५. माया—कपट।

६. लोभ।

७. रति—मन पसन्द वस्तु के मिलने पर हर्ष।

८. अरति—अमनोज्ञ वस्तु के मिलने पर खेद।

९. निद्रा।

१०. शोक।

११. अलीक—झूठ।

१२. चौर्य—चोरी।

१३. मत्सर—डाह।

१४. भय।

१५. हिंसा।

१६. राग—आसक्ति।

१७. क्रीडा—खेल-तमाशा व नाच रंग।

१८. हास्य—हँसी-मजाक।

जब तक मनुष्य इन अठारह दोषों से सर्वथा मुक्त नहीं होता तब तक वह आध्यात्मिक शुद्धि के पूर्ण विकास के पद पर नहीं पहुँच सकता। ज्यों ही वह अठारह दोषों से मुक्त होता है त्यों ही आत्म शुद्धि के महान् और ऊँचे शिखर पर पहुँच जाता है तथा केवलज्ञान एवं केवल-दर्शन के द्वारा समस्त विश्व का ज्ञाता-द्रष्टा बन जाता है। तीर्थंकर भगवान् इन अठारह दोषों से सर्वथा रहित होते हैं। एक भी दोष उनके जीवन में नहीं रहता।

तीर्थंकर ईश्वरीय अवतार नहीं हैं

जैन-तीर्थंकर के सम्बन्ध में कुछ लोग बहुत भ्रान्त धारणाएँ रखते हैं। उनका कहना है कि—जैन अपने तीर्थंकरों को ईश्वर का अवतार मानते हैं। मैं उन बन्धुओं से कहूँगा कि वे भूल म हैं। जैन-धर्म ईश्वरवादी नही हैं। वह ससार के कर्ता, धर्ता और सहर्ता किसी एक ईश्वर को नही मानता। उसकी यह मान्यता नहीं है कि हजारो भुजाओं वाला, दुष्टो का नाश करने वाला भक्तो का पालन करने वाला सर्वथा परोक्ष मे कोई एक ईश्वर है और वह यथासमय नन्त ससार पर दया भाव लाकर गो लोक, सत्य लोक या वैकुण्ठ धाम आदि म दौडकर ससार में आता है किसी के यहाँ जन्म लेता है, और फिर लीला दिखाकर वापस लौट जाता है। अथवा जहाँ कही भी है, वही से बैठा हुआ ससार-घटिका की सुई फेर देता और मनचाहा बजा देता है।

जैन-धर्म म मनुष्य से बढकर और कोई दूसरा महान् प्राणी नहीं है। जैन शास्त्रो मे आप जहाँ कही भी देखेंगे मनुष्यो को सम्बोधन करते हुए देवाणुप्पिय" शब्दो का प्रयोग पायेंगे। उक्त सम्बोधन का यह भावार्थ है कि दव-ससार' भी मनुष्य के आगे तुच्छ है। वह भी मनुष्य के प्रति प्रेम श्रद्धा एव आदर का भाव रखता है। मनुष्य असीम तथा अनन्त शक्तियो का भण्डार है। वह दूसरे शब्दो मे स्वयसिद्ध ईश्वर है परन्तु ससार की मोह माया के कारण कर्म-मल से आच्छादित है अत बादलो से ढँका हुआ सूर्य है जो सम्यक् रूप से अपना प्रकाश प्रसारित नही कर सकता।

परन्तु ज्यो ही वह होश मे आता है, अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानता है, दुर्गुणो को त्यागकर सद्गुणो को अपनाता है, तो धीरे-धीरे निर्मल, शुद्ध एव स्वच्छ हो [illegible] दिन जगमगाती

हुई अनन्त शक्तियों का प्रकाश प्राप्त कर मानवता के पूर्ण विकास की कोटि पर पहुँच जाता है और सर्वज्ञ सर्वदर्शी ईश्वर परमात्मा शुद्ध बुद्ध बन जाता है। तदनन्तर जीवनमुक्त दशा में संसार को सत्य का प्रकाश देता है और अन्त में निर्वाण प्राप्त कर मोक्ष-दशा में सदा काल के लिए अजर-अमर अविनाशी—जैन-परिभाषा में सिद्ध हो जाता है।

अस्तु, तीर्थंकर भी मनुष्य ही होते हैं। वे कोई अद्‌भुत दैवी सृष्टि के प्राणी ईश्वर अवतार या ईश्वर के अंश जैसे कुछ नहीं होते। एक दिन वे भी हमारी-तुम्हारी तरह वासनाओं के गुलाम थे पाप-मल से लिप्त थे संसार के दुःख शोक-आधि-व्याधि से संत्रस्त थे। सत्य क्या है, असत्य क्या है—यह उन्हें कुछ भी पता नहीं था। इन्द्रिय सुख ही एकमात्र ध्येय था उसी की कल्पना के पीछे अनादि काल से नाना प्रकार के क्लेश उठाते जन्म-मरण के कालावर्त में चक्कर खाते घूम रहे थे। परन्तु अपूर्व पुण्योदय से सत्पुरुषों का संग मिला चैतन्य और जड़ का भेद समझा भौतिक एवं आध्यात्मिक सुख का महान् अन्तर ध्यान में आया फलतः संसार की वासनाओं से मुँह मोड़ कर सत्य-पथ के पथिक बन गए। आत्म-संयम की साधना में पहले के अनेक जन्मों से ही आगे बढ़ते गए और अन्त में एक दिन वह आया कि आत्म-स्वरूप की पूर्ण उपलब्धि उन्हें हो गई। ज्ञान की ज्योति जगमगाई और वे तीर्थंकर के रूप में प्रकट हो गए। उस जन्म में भी यह नहीं कि किसी राजा-महाराजा के यहाँ जन्म लिया और वयस्क होने पर भोग-विलास करते हुए ही तीर्थंकर हो गए। उन्हें भी राज्य वैभव छोड़ना होता है पूर्ण अहिंसा पूर्ण सत्य पूर्ण अस्तेय पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण अपरिग्रह की साधना में निरन्तर जुटा रहना होता है,

तीर्थंकर ईश्वरीय अवतार नहीं हैं

जैन-तीर्थंकर के सम्बन्ध में कुछ लोग बहुत भ्रान्त धारणाएँ रखते हैं। उनका कहना है कि—जैन अपने तीर्थंकरो को ईश्वर का अवतार मानते हैं। मैं उन बन्धुओ से कहूँगा कि वे भूल मे हैं। जैन-धर्म ईश्वरवादी नही हैं। वह ससार के कर्ता, धर्ता और सहर्ता किसी एक ईश्वर को नही मानता। उसकी यह मान्यता नहीं है कि हजारो भुजाओ वाला, दुष्टो का नाश करने वाला भक्तो का पालन करने वाला सवथा परोक्ष मे कोई एक ईश्वर है और वह यथासमय ग्रन्त ससार पर दया भाव लाकर गो-लोक, सत्य लोक या वैकुण्ठ धाम आदि से दौडकर ससार में आता है, किसी के यहाँ जन्म लेता है, और फिर लीला दिखाकर वापस लौट जाता है। अथवा जहाँ कहीं भी है, वही से बैठा हुआ ससार-घटिका की सुई फेर देता और मनचाहा बजा देता है।

जैन-धर्म म मनुष्य से बढकर और कोई दूसरा महान् प्राणी नहीं है। जैन शास्त्रो मे आप जहाँ कहीं भी देखेंगे, मनुष्यो को सम्बोधन करते हुए देवाणुप्पिय" शब्दो का प्रयोग पावेंगे। उक्त सम्बोधन का यह भावार्थ है कि देव-ससार' भी मनुष्य के आगे तुच्छ है। वह भी मनुष्य के प्रति प्रेम श्रद्धा एव आदर का भाव रखता है। मनुष्य असीम तथा अनन्त शक्तियो का भण्डार है। वह दूसरे शब्दो मे स्वयसिद्ध ईश्वर है परन्तु ससार की मोह-माया के कारण कर्म-मल से आच्छादित है अत बादलो से ढँका हुआ सूर्य है, जो सम्यक् रूप से अपना प्रकाश प्रसारित नही कर सकता।

परन्तु ज्यो ही वह होश मे आता है, अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानता है, दुर्गुणो को त्यागकर सद्गुणो को अपनाता है, तो धीरे-धीरे निर्मल, शुद्ध एव स्वच्छ होता चला जाता है, एक दिन जगमगाती

जैन-धर्म में मोक्ष प्राप्त करने के बाद संसार में पुनरागमन नहीं माना जाता। विश्व का प्रत्येक नियम कार्य-कारण के रूप में सम्बद्ध है। बिना कारण के कभी कार्य नहीं हो सकता। बीज होगा तभी अंकुर हो सकता है, शाखा होगी तभी फल लग सकता है। आवागमन तथा जन्म-मरण पाने का कारण कर्म है और वह मोक्ष अवस्था में नहीं रहता। अतः कोई भी विचारशील सज्जन समझ सकता है कि—जो आत्मा कर्मबन्ध से मुक्त होकर मोक्ष पा चुका वह फिर संसार में कैसे आ सकता है। बीज तभी तक उत्पन्न हो सकता है जब तक कि वह भुना नहीं है निर्जीव नहीं हुआ है। जब बीज एक बार भुन गया तो फिर कभी भी उससे अंकुर-उत्पन्न नहीं हो सकता। जन्म-मरण के अंकुर का बीज कर्म है। जब उसे तपश्चरण आदि धर्म-क्रियाओं से जला दिया तो फिर जन्म-मरण का अंकुर कैसे फूटेगा? आचार्य उमास्वाति ने अपने 'तत्त्वार्थ भाष्य' में इस सम्बन्ध में क्या ही अच्छा कहा है—

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं
प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्म-बीजे तथा दग्धे
न रोहति भवांकुरः॥

बहुत दूर चला आया हूँ परन्तु विषय को स्पष्ट करने के लिए इतना विस्तार के साथ लिखना आवश्यक भी था। अब आप अच्छी तरह समझ गए होंगे कि जैन-तीर्थंकर मुक्त हो जाते हैं अतएव वे संसार में दुबारा नहीं आते। अस्तु प्रत्येक काल-चक्र में जो चौबीस तीर्थंकर होते हैं वे सब पृथक्-पृथक् आत्मा होते हैं, एक नहीं।

तीर्थंकरों व अन्य मुक्तात्माओं में अन्तर

अब एक और गम्भीर प्रश्न है जो प्रायः हमारे सामने आया करता

पूर्ण विरक्त मुनि बनकर एकान्त निर्जन स्थानो में आत्म-मनन करना होता है, अनेक प्रकार के आधिभौतिक, आधिदैविक एव आध्यात्मिक दु खो को पूर्ण शान्ति के साथ सहन कर प्राणापहारी शत्रु पर भी अन्तर्हृदय से दयामृत का शीतल झरना बहाना होता है, तब कहीं पाप-मल से मुक्त होने पर केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति द्वारा तीर्थंकर पद प्राप्त होता है।

तीर्थंकर का पुनरागमन नहीं

बहुत से स्थानो पर अजैन बन्धुओ द्वारा यह शका प्रकट की जाती है कि "जैनो मे चौबीस ईश्वर या देव हैं, जो प्रत्येक काल-चक्र में बारी-बारी से जन्म लेते हैं और धर्मोपदेश देकर पुन अन्तर्धान हो जाते हैं।" इस शका का समाधान कुछ तो पहले ही कर दिया गया है। फिर भी स्पष्ट शब्दो में यह बात बतला देना चाहता हूँ कि—जैन-धर्म मे ऐसा अवतारवाद नहीं माना गया है। प्रथम तो अवतार शब्द ही जैन परिभाषा का नहीं है। यह वैष्णव-परम्परा का शब्द है, जो उसकी मान्यता के अनुसार विष्णु के बार बार जन्म लेने के रूप म राम कृष्ण आदि सत्पुरुषो के लिए आया है। आगे चलकर एक मात्र महापुरुष का द्योतक रह गया और इसी कारण आजकल के जैन बन्धु भी किसी के पूछने पर झटपट अपने यहाँ चौबीस अवतार बता देते हैं, और तीर्थंकरो को अवतार कह देते हैं, परन्तु इसके पीछे किसी एक व्यक्ति के द्वारा बार-बार जन्म लेने की भ्रान्ति भी चली आई है जिसको लेकर अबोध जनता में यह विश्वास फैल गया है कि चौबीस तीर्थंकरो की मूल सख्या एक शक्ति विशेष के रूप में निश्चित है और वही महाशक्ति प्रत्येक काल-चक्र में बार-बार जन्म लेती है, ससार का उद्धार करती है, और फिर अपने स्थान मे जाकर विराज-मान हो जाती है।

जैनधर्म में मोक्ष प्राप्त करने के बाद संसार में पुनरागमन नहीं माना जाता। विश्व का प्रत्येक नियम कार्य-कारण के रूप में सम्बद्ध है। बिना कारण के कभी कार्य नहीं हो सकता। बीज होगा तभी अंकुर हो सकता है, वर्षा होगी तभी अन्न पक सकता है। आवागमन तथा जन्म-मरण पाने का कारण कर्म है और वह मोक्ष-अवस्था में नहीं रहता। अतः कोई भी विचारशील व्यक्ति समझ सकता है कि—जो आत्मा कर्मबद्ध से मुक्त होकर मोक्ष पा चुका वह फिर संसार में कैसे आ सकता है। बीज तभी तक उत्पन्न हो सकता है जब तक कि वह भुना नहीं है, निर्जीव नहीं हुआ है। जब बीज एक बार भुन गया तो फिर कभी भी उससे अंकुर-उत्पत्ति नहीं हो सकती। जन्म-मरण के अंकुर का बीज कर्म है। जब उसे तपश्चरण आदि धर्म-क्रियाओं से जला दिया तो फिर जन्म-मरण का अंकुर कैसे फूटेगा? आचार्य उमास्वाति ने अपने 'तत्त्वार्थ भाष्य' में इस सम्बन्ध में ऐसा ही कहा है—

दग्धे बीजे यथात्यन्तं
प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्म-बीजे तथा दग्धे
न रोहति भवांकुरः॥

बहुत दूर चला आया हूँ, परन्तु विषय को स्पष्ट करने के लिए इतना विस्तार के साथ लिखना आवश्यक भी था। अब आप अच्छी तरह समझ गए होंगे कि जैन-तीर्थंकर मुक्त हो जाते हैं, फलतः वे संसार में दुबारा नहीं आते। अस्तु, प्रत्येक काल-चक्र में जो चौबीस तीर्थंकर होते हैं, वे सब पृथक्-पृथक् आत्मा होते हैं, एक नहीं।

तीर्थंकरों व अन्य मुक्तात्माओं में अन्तर

अब एक और गम्भीर प्रश्न है, जो प्रायः हमारे सामने आया करता

है। कुछ लोग कहते है कि—"जैन अपने चौवीस तीर्थंकरो का ही मुक्त होना मानते हैं, और कोई इनके यहाँ मुक्त नही होते।" यह बिल्कुल ही भ्रान्त धारणा है। इसमे सत्य का कुछ भी अश नहीं है।

तीर्थंकरो के अतिरिक्त अन्य आत्माएँ भी मुक्त होती हैं। जैन-धर्म किसी एक व्यक्ति, जाति या समाज के अधिकार में ही मुक्ति का ठेका नही रखता। उसकी उदार दृष्टि मे तो हर कोई मनुष्य, चाहे वह किसी भी देश, जाति, समाज या धर्म का हो, जो अपने आपको बुराइयों से बचाता है, आत्मा को अहिंसा, क्षमा, सत्य, शील आदि सद्गुणो से पवित्र बनाता है, वह अनन्त ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करके मुक्त हो सकता है।

तीर्थंकरो की और अन्य मुक्त होने वाली महान् आत्माओ की आन्तरिक शक्तियो मे कोई भेद नही है। केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन आदि आत्मिक शक्तियां सभी मुक्त होने वालो मे समान होती हैं। जो कुछ भेद है, वह धर्म-प्रचार की मौलिक दृष्टि का और अन्य योग-सम्बन्धी अद्भुत शक्तियो का है। तीर्थंकर महान् धर्म-प्रचारक होते हैं, वे अपने अद्वितीय तेजोबल से अज्ञान एव अन्धविश्वासो का अन्धकार छिन्न-भिन्न कर देते हैं, और एक प्रकार से जीर्ण-शीर्ण सड़े-गले मानव-ससार का कायाकल्प कर डालते हैं। उनकी योग सम्बन्धी शक्तियां अर्थात् सिद्धियां भी बड़ी ही अद्भुत होती हैं। उनका शरीर पूर्ण स्वस्थ एव निर्मल रहता है, मुख के श्वास-उच्छ्वास सुगन्धित होते हैं। वैरानुबद्ध विरोधी प्राणी भी उपदेश श्रवण कर शान्त हो जाते हैं। उनकी उपस्थिति मे दुर्भिक्ष एव अतिवृष्टि आदि उपद्रव नही होते महामारी भी नही होती। उनके प्रभाव से रोग-ग्रस्त प्राणियो के रोग भी दूर हो जाते हैं। उनकी भाषा मे वह चमत्कार होता है कि—क्या आर्य और क्या अनार्य मनुष्य, क्या पशु-पक्षी सभी

उनकी दिव्यवाणी का भावार्थ समझ लेते हैं। इस प्रकार अनेक लोको-पकारी सिद्धियों के स्वामी तीर्थंकर होते हैं जबकि दूसरे मुक्त होने वाले आत्मा ऐसे नहीं होते। अर्थात् न तो वे तीर्थंकर जैसे महान् धर्म प्रचारक ही होते हैं और न इतनी अलौकिक योग-सिद्धियों के स्वामी ही। साधारण मुक्त जीव अपना अन्तिम विकास-लक्ष्य अवश्य प्राप्त कर लेते हैं परन्तु जनता पर अपना चिरस्थायी एवं असाधारण आध्यात्मिक प्रभुत्व नहीं जमा पाते। यही एक विशेषता है जो तीर्थंकर और अन्य मुक्त आत्माओं में भेद करती है।

प्रस्तुत विषय के साथ लगती हुई यह बात भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह भेद मात्र जीवन्मुक्त दशा में अर्थात् देहधारी अवस्था में ही है। मोक्ष-प्राप्ति के बाद कोई भी भेद भाव नहीं रहता। वहाँ तीर्थंकर और अन्य मुक्त आत्मा सभी एक ही स्वरूप में रहते हैं। चूंकि जब तक जीवात्मा जीवन्मुक्त दशा में रहता है तब तक तो प्रारब्ध-कर्म का भोग बाकी रहता है अतः उसके कारण जीवन में भेद रहता है। परन्तु देह-मुक्त दशा होने पर मोक्ष में तो कोई भी कर्म अवशिष्ट नहीं रहता। अतः कर्मजन्य भेद-भाव भी नहीं रहता।

१०

तीर्थंकर की परिभाषा और उनके स्वरूप के सम्बन्ध में पिछले अध्यायों में आप पढ़ चुके हैं। इस अध्याय में पढ़िए वर्तमान कालचक्र के चौबीस तीर्थंकरों का संक्षिप्त जीवन-परिचय।

चौवीस तीर्थंकर

आध्यात्मिक विकास के उच्च शिखर पर पहुँचने वाले महापुरुषों को जैन-धर्म मे तीर्थंकर कहा जाता है। तीर्थंकर देव राग, द्वेष, भय, आश्चय, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह चिन्ता ,आदि विकारो से सर्वथा रहित होते हैं केवलज्ञान और केवलदर्शन से युक्त होते हैं। स्वर्ग के देवता भी उनके चरण कमलो मे श्रद्धा-भक्ति के साथ वन्दना करते हैं।

तीर्थंकरो का जीवन बहुत ही महान् होता है। उनके समवसरण (धर्म-सभा) मे अहिंसा का अखण्ड राज्य होता है। सिंह और मृग आदि विरोधी प्राणी भी एक साथ प्रेम से बैठे रहते हैं। न सिंह में मारक वृत्ति रहती है और न मृग मे भय-वृत्ति। अहिंसा के देवता के सामने हिंसा का अस्तित्व भला कैसे रह सकता है ?

आपको ये बातें शायद असम्भव जैसी मालूम होती हैं, परन्तु आध्यात्मिक शक्ति के सामने कुछ भी कहना असम्भव नहीं है। आज-कल भौतिक विद्या के चमत्कार ही कुछ कम आश्चर्यजनक हैं क्या ? तब आध्यात्मिक विद्या के चमत्कारो का तो कहना ही क्या ? उनके आध्यात्मिक वैभव की तुलना अन्य किसी से की ही नही जा सकती।

वर्तमान काल-प्रवाह में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में चौबीसों ही तीर्थंकरों का विस्तृत जीवन-चरित्र मिलता है। परन्तु यहाँ विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही चौबीस तीर्थंकरों का परिचय दिया जाता है।

१ ऋषभदेव

भगवान् ऋषभदेव पहले तीर्थंकर हैं। इनका जन्म उस प्राचीन आदि युग में हुआ जब मनुष्य वृक्षों के नीचे रहते थे और वन फल तथा कन्द-मूल खाकर जीवन यापन करते थे। इनके पिता का नाम नाभिराजा और माता का नाम मरुदेवी था। इन्होंने युवावस्था में आर्य-सभ्यता की नींव डाली। पुरुषों को बहत्तर और स्त्रियों को चौसठ कलाएँ सिखाईं। वे विवाहित हुए। बाद में राज्य त्यागकर दीक्षा ग्रहण की और कैवल्य पाया। भगवान् ऋषभदेव का जन्म चैत्रकृष्णा अष्टमी को और निर्वाण (मोक्ष) माघकृष्णा चतुर्दशी को हुआ। इनकी निर्वाण-भूमि अष्टापद (कैलाश) पर्वत है ऋग्वेद विष्णुपुराण अग्निपुराण भागवत आदि वैदिक साहित्य में भी इनका गुण-कीर्तन किया गया है।

२ अजितनाथ

भगवान् अजितनाथ दूसरे तीर्थंकर हैं। इनका जन्म अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय सम्राट जितशत्रु राजा के यहाँ हुआ। माता का नाम विजयादेवी था। भारतवर्ष के दूसरे चक्रवर्ती सगर इनके चाचा सुमित्रविजय के पुत्र थे। भगवान् अजितनाथ का जन्म माघशुक्ला अष्टमी को और निर्वाण चैत्रशुक्ला पंचमी को हुआ। इनकी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है जो आजकल बिहार में पारस नाथ पहाड़ के नाम से प्रसिद्ध है।

३ सम्भवनाथ

भगवान् सम्भवनाथ तीसरे तीर्थङ्कर है। इनका जन्म श्रावस्ती नगरी में हुआ। पिता का नाम इक्ष्वाकुवंशीय महाराजा जितारि और माता का नाम सेनादेवी था। इन्होंने पूर्वजन्म में विपुल वाहन राजा के रूप में अत्यन्त प्रजा का पालन किया था और अपना सब कोष दानों के हितार्थ लुटा दिया था। भगवान सम्भवनाथ का जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला चतुर्दशी को और निर्वाण चैत्रशुक्ला पंचमी को हुआ। आपकी भी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

४ अभिनन्दन

भगवान अभिनन्दन चौथे तीर्थंकर हैं। इनका जन्म अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकुवंशीय राजा संवर के यहाँ हुआ। माता का नाम सिद्धार्था था। भगवान् अभिनन्दननाथ का जन्म माघशुक्ला द्वितीया को और निर्वाण वैशाख अष्टमी को हुआ। इनकी भी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

५ सुमतिनाथ

भगवान सुमतिनाथ पाँचवे तीर्थंकर हैं। इनका जन्म अयोध्या नगरी (कोशलपुरी) में हुआ। उनके पिता महाराजा मेघरथ और माता सुमंगला देवी थी। भगवान् सुमतिनाथ का जन्म वैशाखशुक्ला अष्टमी को तथा निर्वाण चैत्रशुक्ला नवमी को हुआ। आपकी भी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। आप जब गर्भ में आए तब माता की बुद्धि बहुत श्रेष्ठ और तीव्र हो गई थी, इसलिए इनका नाम सुमति रखा गया।

६ पद्मप्रभ

भगवान पद्मप्रभ छठे तीर्थंकर हैं। इनका जन्म कौशाम्बी नगरी के राजा श्रीधर के यहाँ हुआ। माता का नाम सुसीमा था। जन्म कार्तिक कृष्णा

द्वादशी को और निर्वाण मार्गशीर्ष कृष्णा एकादशी को हुआ। आपकी भी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

७ सुपार्श्वनाथ

भगवान् सुपार्श्वनाथ सातवें तीर्थंकर हैं। इनकी जन्मभूमि का (वाराणसी) पिता प्रतिष्ठसेन राजा और माता पृथ्वी। जन्म ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी को और निर्वाण फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को हुआ। आपकी भी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

८. चन्द्रप्रभ

भगवान् चन्द्रप्रभ आठवें तीर्थंकर हैं। इनकी जन्म भूमि चन्द्रपुरी नगरी पिता महासेन राजा और माता लक्ष्मणा थी। भगवान् चन्द्रप्रभ का जन्म पौषशुक्ला द्वादशी को और निर्वाण भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को हुआ। आपकी भी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

९. सुविधिनाथ

भगवान् सुविधिनाथ (पुष्पदन्त) नौवें तीर्थंकर हैं। इनकी जन्मभूमि काकन्दी नगरी पिता सुग्रीव राजा और माता रामादेवी थी। जन्म मार्गशीर्ष पंचमी को और निर्वाण भाद्रपद शुक्ला नवमी को हुआ। इनकी भी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

१ शीतलनाथ

भगवान् शीतलनाथ दसवें तीर्थंकर हैं। इनकी जन्म-भूमि भद्दिल-पुर नगरी। पिता दृढरथ राजा और माता नन्दादेवी। जन्म माघ कृष्णा द्वादशी को और निर्वाण वैशाख कृष्णा द्वितीया को हुआ। इनकी भी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

११ श्रेयांसनाथ

भगवान् श्रेयांसनाथ ग्यारहवें तीर्थंकर हैं। जन्म-भूमि सिंहपुर

नगरी, पिता विष्णुसेन राजा और माता विष्णुदेवी। जन्म फाल्गुन कृष्णा द्वादशी को और निर्वाण श्रावण कृष्णा तृतीया को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। भगवान् महावीर ने पूर्व जन्मों में त्रिपृष्ठ वासुदेव के रूप में भगवान् श्रेयासनाथ जी के चरणों में उपदेश प्राप्त किया था।

१२ वासुपूज्य

भगवान वासुपूज्य बारहवें तीर्थंकर हैं। जन्म-भूमि चम्पा नगरी, पिता वासुपूज्य राजा और माता जयादेवी। आपका जन्म फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को और निर्वाण आषाढ शुक्ला चतुर्दशी को हुआ। निर्वाण-भूमि चम्पा नगरी। आप बालब्रह्मचारी रहे, विवाह नहीं किया।

१३ विमलनाथ

भगवान् विमलनाथ तेरहवें तीर्थंकर हैं। इनकी जन्म-भूमि कम्पिलपुर नगरी, पिता कृतवर्म राजा और माता श्यामादेवी। जन्म माघशुक्ला तृतीया और निर्वाण आषाढ़ कृष्णा सप्तमी को हुआ। आपकी भी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

१४ अनन्तनाथ

भगवान अनन्तनाथ चौदहवें तीर्थंकर हैं। जन्म-भूमि अयोध्या नगरी, पिता सिंहसेन राजा और माता सुयशा। जन्म वैशाखकृष्णा तृतीय को और निर्वाण चैत्रशुक्ला पंचमी को हुआ। इनकी निर्वाण भूमि भी सम्मेत-शिखर है।

१५ धर्मनाथ

भगवान धर्मनाथ पन्द्रहवें तीर्थंकर हैं। जन्म-भूमि रत्नपुर नामक नगरी, पिता भानुराजा और माता सुव्रता। जन्म माघ शुक्ला तृतीया को

और निर्वाण ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को हुआ। निर्वाण भूमि आपकी भी सम्मेत-शिखर है।

१६ शान्तिनाथ

भगवान् शान्तिनाथ सोलहवें तीर्थंकर हैं। आपका जन्म हस्तिनापुर के राजा विश्वसेन की अचिरा रानी से हुआ। जन्म ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी को और निर्वाण भी इसी तिथि को हुआ। निर्वाण भूमि सम्मेतशिखर है। भगवान् शान्तिनाथ भारत के पंचम चक्रवर्ती राजा भी थे। इनके जन्म लेने पर देश में फैली हुई मृगी रोग की महामारी शान्त हो गई थी इसलिए माता-पिता ने उनका नाम शान्तिनाथ रखा। वे बहुत ही दयालु प्रकृति के थे। पहले जन्म में जबकि वे मेघरथ राजा थे कबूतर की रक्षा के लिए उसके बदले में बाजको अपने शरीर का मांस काट कर दे दिया था।

१७ कुन्थुनाथ

भगवान् कुन्थुनाथ सत्रहवें तीर्थंकर हैं। इनका जन्म-स्थान हस्तिनापुर पिता सूरराजा माता श्रीदेवी थी। जन्म वैशाख कृष्णा चतुर्दशी और निर्वाण वैशाख कृष्णा प्रतिपदा (एकम) को हुआ। निर्वाण भूमि सम्मेत-शिखर है भगवान् कुन्थुनाथ भारत के छठे चक्रवर्ती राजा भी थे।

१८. अरनाथ

भगवान् अरनाथ अठारहवें तीर्थंकर हैं। जन्म-स्थान हस्तिनापुर पिता सुदर्शनराजा और माता श्रीदेवी। आपका जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी और निर्वाण भी मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को ही हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। भगवान् अरनाथ भारत के सातवें चक्रवर्ती राजा भी थे।

१९ मल्लिनाथ

भगवान मल्लि उन्नीसवें तीर्थंकर हैं। जन्म-स्थान मिथिला नगरी, पिता कुम्भ राजा और माता प्रभावतीदेवी। जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को और निर्वाण फाल्गुन शुक्ला द्वादशी को सम्मेतशिखर पर हुआ। ये वर्तमान काल के चौबीस तीर्थंकरों में स्त्री-तीर्थंकर थे। इन्होंने विवाह नहीं किया, आजन्म ब्रह्मचारी रहे। स्त्री शरीर होते हुए भी इन्होंने बहुत व्यापक भ्रमण कर धर्म-प्रचार किया। चालीस हजार मुनि और पचपन हजार साध्वियाँ इनके शिष्य हुए तथा १,७९,००० श्रावक और ३,७०,००० श्राविकाएँ थी।

२० मुनिसुव्रतनाथ

भगवान मुनिसुव्रतनाथ बीसवें तीर्थंकर हैं। जन्म-भूमि राजगृह नगरी, पिता हरिवंश कुलोत्पन्न सुमित्र राजा और माता पद्मावती-देवी। जन्म ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी और निर्वाण ज्येष्ठ कृष्णा नवमी को हुआ। निर्वाणभूमि सम्मेतशिखर है।

२१ नमिनाथ

भगवान नमिनाथ इक्कीसवें तीर्थंकर हैं। इनकी जन्म-भूमि मिथिला नगरी थी। कुछ आचार्य मथुरा नगरी बताते हैं। पिता विजयसेन राजा और माता वप्रादेवी। जन्म श्रावण कृष्णा अष्टमी और निर्वाण वैशाख कृष्णा दशमी को हुआ। आपकी भी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

२२ नेमिनाथ

भगवान नेमिनाथ बाइसवें तीर्थंकर हैं। दूसरा नाम अरिष्टनेमि भी था। आपकी जन्म-भूमि आगरा के पास शोरीपुर नगर पिता यदुवंश के राजा समुद्रविजय और माता शिवादेवी थी। जन्म श्रावण शुक्ला पंचमी और निर्वाण आषाढ़ शुक्ला अष्टमी को हुआ। निर्वाण-

भूमि सौराष्ट्र में गिरनार पर्वत है जिसे पुराने युग में रैवतगिरि भी कहते थे। भगवान अरिष्टनेमि कर्मयोगी श्रीकृष्णचन्द्र के ताऊ के पुत्र भाई थे। श्रीकृष्ण ने भगवान् नेमिनाथ से धर्मोपदेश सुना था। इनका विवाह-सम्बन्धी महाराजा उग्रसेन की सुपुत्री राजीमती से निश्चित हुआ था किन्तु विवाह के अवसर पर बरातियों के भोजन के लिए पशु-वध होता देखकर इनका हृदय द्रवित हो उठा तत्काल वापस लौटकर मुनि बन गए, विवाह नहीं किया।

२३ पार्श्वनाथ

भगवान् पार्श्वनाथ तेईसवें तीर्थंकर हैं। आपकी जन्मभूमि वाराणसी (बनारस) पिता अश्वसेन राजा और माता वामादेवी थी। जन्म पौष कृष्णा दशमी और निर्वाण श्रावण शुक्ला अष्टमी है। निर्वाण भूमि सम्मेद शिखर है। आपने कमठ तपस्वी को बोध दिया था और उसकी धूनी में से जलते हुए नाग को बचाया था।

२४ महावीर

भगवान् महावीर चौबीसवें तीर्थंकर हैं। इनकी जन्म-भूमि वैशाली (क्षत्रिय कुण्ड) पिता सिद्धार्थ राजा और माता त्रिशला देवी थी। जन्म चैत्र शुक्ला त्रयोदशी निर्वाण कार्तिक कृष्णा अमावस्या (दीवाली)। निर्वाणभूमि पावापुरी है। भगवान् महावीर बड़े ही उत्कृष्ट त्यागी पुरुष थे। भारतवर्ष में सर्वत्र चले हुए हिंसामय यज्ञों का निषेध करके दया और प्रेम का प्रचार किया। बौद्ध साहित्य में भी इनके जीवन से सम्बन्धित अनेक उल्लेख मिलते हैं। महात्मा बुद्ध श्रमण भगवान महावीर के समकालीन थे। वर्तमान में श्रमण भगवान् महावीर का ही शासन चल रहा है।

'जैन' कोई जाति नहीं, धर्म है। जैन-धर्म के सिद्धान्तों में जो दृढ़ विश्वास रखता है और उनके अनुसार आचरण करता है, वही सच्चा 'जैन' कहलाता है। जैन का जीवन किस प्रकार आदर्श होना चाहिए यह प्रस्तुत प्रकरण में दिखाया गया है।

११

आदर्श जैन

जो सकल विश्व की शान्ति चाहता है,
सबको प्रेम और स्नेह की आँखों से देखता है,
वही सच्चा जैन है!

× × ×

जो शान्ति का मधुर संगीत सुनाकर,
सबको ज्ञान का प्रकाश दिखलाता है,
कर्तव्य-वीरता का डंका बजाकर,
प्रेम की सुगन्ध फैलाता है,
अज्ञान और मोह की निद्रा से सबको बचाता है,
वही सच्चा जैन है!

× × ×

ज्ञान चेतना की गंगा बहाने वाला,
मधुरता की जीवित मूर्ति

सर्वज्ञ-जैन का अविचल वीर योद्धा
वही सच्चा जैन है !

× × ×

जैन का अर्थ अजेय है
जो मन और इन्द्रियों के विकारों को जीतने वाला
आत्म-विजय की दिशा में सतत सतर्क रहने वाला है
वही सच्चा जैन है ।

× × ×

जैनत्व और कुछ नहीं आत्मा की शुद्ध स्थिति है !
आत्मा को जितना जगा जाय उतना ही जैनत्व का विकास !
जैन कोई जाति नहीं धर्म है !
किसी भी देश पथ और जाति का
कोई भी आत्म-विजय के पथ का गामी वही जैन ।

× × ×

जैन बहुत थोड़ा परन्तु मधुर बोलता है
मानो झरता हुआ अमृतरस हो !
उसकी मृदुवाणी कठोर-से कठोर हृदय को भी
पिघला कर मक्खन बना देती है !
जैन के जहाँ भी पाँव पड़ें वही कल्याण तीर्थ धाम !
जैन का समागम
जैन का सहचार
सबको अपूर्व शान्ति देता है !
इसके गुलाबी हास्य के पुष्प
मानव जीवन को सुरभित बना देते हैं !

दान तभी दिया जा सकता है, जब मन मे करुणा, त्याग व उदारता की कोई लहर उठती है। दान का जितना सामाजिक महत्व है, उससे भी कहीं अधिक आध्यात्मिक महत्व है। दान करना धर्म-साधना का मुख्य अंग है। अत आवश्यक है कि उसके सम्बन्ध में हमें यथेष्ट ज्ञान हो, इसलिए पढ़िए निबन्ध — दान।

१२

दान

दान की महत्ता

भारतवर्ष धर्म-प्रधान देश है। यहाँ धर्म को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। यहाँ छोटी-से-छोटी बात को भी धर्म की कसौटी पर परखा जाता है। भारत मे धर्म-क्रियाओ की कोई निश्चित गिनती नहीं है। जीवन समाप्त हो सकता है परन्तु धर्म-क्रियाओ की गणना नहीं हो सकती। जितने भी अच्छे विचार और अच्छे आचार हैं, वे सब धर्म हैं।

परन्तु विश्व के धर्मो मे सबसे बड़ा धर्म कौन है, यह एक प्रश्न है जो अनादि काल से साधक के मन मे उठता आया है। इस प्रश्न का समाधान अनेक प्रकार से किया गया है। किसी महापुरुष ने तप को बड़ा धर्म बताया है किसी ने दया को, किसी ने सत्य को, किसी ने भगवद् भक्ति को किसी ने ब्रह्मचर्य को, तो किसी ने क्षमा को!

सभी ने अपने-अपने दृष्टिकोण से ठीक कहा है। परन्तु हमें यहाँ एक महापुरुष की बात सबसे अच्छी मालूम देती है कि 'दान-धर्म सबसे बड़ा धर्म है।'

दान का महत्व बड़ा-चढ़ा है। दान दुर्गति का नाश करता है मनुष्य के हृदय को विशाल और विराट बनाता है सोई हुई मानवता को जागृत करता है हृदय में दया और प्रेम की गंगा बहा देता है सहानुभूति का एक सुन्दर सुगन्धित वातावरण तैयार करता है। दान देने से संसार में कोई भी वस्तु अप्राप्य नहीं रहती। दान देने वाला सर्वत्र प्रेम और आदर का स्थान पाता है। उसके यश की सुगन्ध दसों दिशाओं में सर्वत्र फैल जाती है।

दान देना कोई साधारण कार्य नहीं है। अपनी संग्रह की हुई वस्तु को मुक्त मन से प्रसन्नतापूर्वक किसी को अर्पण कर देना वस्तुतः बहुत बड़े साहस का काम है। लोग कौड़ी-कौड़ी पर मरते हैं लड़ते-झगड़ते हैं। पैसे-पैसे के लिए अपने प्राणों को खतरे में डालते हैं। दुनिया भर का तूफान खड़ा करने के बाद कहीं चार पैसे प्राप्त होते हैं। दस प्राण तो शास्त्रों में बताए ही हैं। धन को लोग ग्यारहवाँ प्राण बतलाते हैं। तभी तो कहा है देना और मरना बराबर है। अपने पसीने की गाढ़ी कमाई को परोपकार में खर्च करना बड़े ही भाग्यशाली दिव्य आत्माओं का काम है। जो स्त्री-पुरुष निःस्वार्थ भाव से दान करते हैं और दान करके प्रसन्न रहते हैं वस्तुतः वे देवस्वरूप हैं। दान देते समय दाता जीवन की एक बहुत बड़ी ऊँचाई पर पहुँच जाता है।

जैन-धर्म में दान की बड़ी महिमा गाई है। दान देने वाले को स्वर्ग और मोक्ष का अधिकारी बतलाया है। भगवान महावीर खुद

उसकी सब प्रवृत्तियां,
जीवन मे रस और आनन्द भरने वाली है।

× × ×

जैन गहरा है अत्यन्त गहरा है।
वह छिछला नही छिलकने वाला नही !
उसके हृदय की गहराई मे,
शक्ति और शान्ति का अक्षय भण्डार है,
धैर्य और शौर्य का प्रबल प्रवाह है,
श्रद्धा और निर्दोष भक्ति की मधुर झकार है)

× × ×

धन वैभव से जैन कौन खरीद सकता है ?
धमकिया से उसे कौन डरा सकता है ?
और खुशामद से भी कौन जीत सकता है ?
कोई नही कोई नही !
सिद्धान्त के लिए काम पड़े तो वह पल-भर मे,
स्वर्ग के साम्राज्य को भी ठोकर मार सकता है।

× × ×

जैन के त्याग मे, दिव्य-जीवन की सुगन्ध है !
आत्म कल्याण और विश्व-कल्याण का विलक्षण मेल है !
जैन की शक्ति सहार के लिए नही है !
वह तो अशक्तो को शक्ति देती है,
शुभ की स्थापना करती है,
और अशुभ का नाश करती है।
सच्चा जैन पवित्रता और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए,
मृत्यु को भी सहर्ष सानन्द निमन्त्रण देता है।
जैन जीता है,

आत्मा के पूर्ण वैभव में
और मस्ती भी है वह
आत्मा के पूर्ण वैभव में।

× × ×

जैन की गरीबी में सन्तोष की छाया है।
जैन की अमीरी में गरीबों का हिस्सा है।

× × ×

जैन आत्म-श्रद्धा की नौका पर चढ़ कर
निर्भय और निःशंक भाव से जीवन-यात्रा करता है।
विवेक के उज्ज्वल तारे के नीचे
अपने व्यक्तित्व को चमकाता है।
राग और द्वेष से रहित
वासनाओं का विजेता 'अरिहंत' उसका उपास्य है।
हिमगिरि के समान अचल एवं अकम्प जैन
दुनिया के प्रवाह में स्वयं न बह कर,
दुनिया को ही अपनी ओर आकृष्ट करता है।
मानव-संसार को अपने उज्ज्वल चरित्र से प्रभावित करता है।
अतएव एक दिन देवगण भी
सच्चे जैन की चरण-सेवा में
आकर सभक्ति मस्तक झुका देते हैं?

× × ×

जैन बनना मानव के लिए,
परम सौभाग्य की बात है।
जैनत्व का विकास करना
इसी से मानव-जीवन का परम कल्याण है।

('आदर्श जैन' के आधार पर)

□ □

दान तभी दिया जा सकता है, जब मन मे करुणा त्याग व उदारता की कोई लहर उठती है। दान का जितना सामाजिक महत्व है, उससे भी कहीं अधिक आध्यात्मिक महत्व है। दान करना धर्म-साधना का मुख्य अग है। अत आवश्यक है कि उसके सम्बन्ध मे हमे यथेष्ट ज्ञान हो, इसलिए पढिए निबन्ध — दान।

१२

दान

दान की महत्ता

भारतवर्ष धर्म-प्रधान देश है। यहाँ धर्म को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। यहाँ छोटी-से-छोटी बात को भी धर्म की कसौटी पर परखा जाता है। भारत मे धर्म-क्रियाओ की कोई निश्चित गिनती नही है। जीवन समाप्त हो सकता है परन्तु धर्म-क्रियाओ की गणना नही हो सकती। जितने भी अच्छे विचार और अच्छे आचार हैं, वे सब धर्म हैं।

परन्तु विश्व के धर्मों मे सबसे बडा धर्म कौन है, यह एक प्रश्न है जो अनादि काल से साधक के मन मे उठता आया है। इस प्रश्न का समाधान अनेक प्रकार से किया गया है। किसी महापुरुष ने तप को बडा धर्म बताया है किसी ने दया को, किसी ने सत्य को, किसी ने भगवद् भक्ति को किसी ने ब्रह्मचर्य को तो किसी ने क्षमा को।

सभी ने अपने-अपने दृष्टिकोण से ठीक कहा है। परन्तु हमें यहाँ एक महापुरुष की बात सबसे अच्छी मालूम देती है कि 'दान-धर्म सबसे बड़ा धर्म है।'

दान का महत्त्व बढ़ा-चढ़ा है। दान दुर्गति का नाश करता है, मनुष्य के हृदय को विशाल और विराट बनाता है, सोई हुई मानवता को जागृत करता है, हृदय में दया और प्रेम की धारा बहा देता है, सहानुभूति का एक सुन्दर सुरभित वातावरण तैयार करता है। दान देने से संसार में कोई भी वस्तु अप्राप्य नहीं रहती। दान देने वाला सर्वत्र प्रेम और आदर का स्थान पाता है। उसके यश की सुगन्ध चारों दिशाओं में सर्वत्र फैल जाती है।

दान देना कोई साधारण कार्य नहीं है। अपनी संग्रह की हुई वस्तु को मुक्तमन से प्रसन्नतापूर्वक किसी को अर्पण कर देना वस्तुतः बहुत बड़े साहस का काम है। लोग कौड़ी-कौड़ी पर मरते हैं, लड़ते-झगड़ते हैं। पैसे-पैसे के लिए अपने प्राणों को खतरे में डालते हैं। दुनिया भर का तूफान खड़ा करने के बाद कहीं चार पैसे प्राप्त होते हैं। दस प्राण तो शास्त्रों में बताए ही हैं। धन को लोग ग्यारहवाँ प्राण बतलाते हैं। तभी तो कहा है 'देना और मरना बराबर है।' अपने पसीने की गाढ़ी कमाई को परोपकार में खर्च करना बड़े ही भाग्यशाली दिव्य आत्माओं का काम है। जो स्त्री-पुरुष निस्वार्थ भाव से दान करते हैं और दान करके प्रसन्न रहते हैं सचमुच वे देवस्वरूप हैं। दान देते समय दाता जीवन की एक बहुत बड़ी ऊँचाई पर पहुँच जाता है।

जैन-धर्म में दान की बड़ी महिमा गाई है। दान देने वाले को स्वर्ग और मोक्ष का अधिकारी बतलाया है। भगवान महावीर सूत्र

बहुत बडे दानी थे। बचपन से ही उन्हें दान से प्रेम था। किसी भी भूखे गरीब को देखते, तो उनकी आंखो में दया के आंसू उमडने लगते। जो भी पास में होता, गरीबो को दान कर देते। भगवान् महावीर राजकुमार थे। उन्हें किसी भी भौतिक सुख-साधन की कमी नही थी। वे प्राय अपना भोजन साथियो को बांट कर ही खाते थे। राजपाट त्याग कर जब मुनि होने लगे, तब भी भगवान महावीर ने एक वर्ष तक निरन्तर दान दिया। जो कुछ भी अपने पास धन का सग्रह था, वह सब-का-सब जनसेवा मे अर्पित कर दिया। उन दिनों भगवान् महावीर एक वर्ष तक प्रतिदिन एक करोड आठ लाख स्वर्ण-मुद्राएँ दान मे देते रहे। भगवान् पार्श्वनाथ आदि दूसरे तीर्थंकर भी बहुत बडे दानी थे। जैन-धर्म मे जहाँ दान, शील, तप और भावना के रूप मे धर्म के चार भेद बताये हैं, वहाँ सबप्रथम स्थान दान को ही प्रदान किया है। वस्तुत दान है भी सर्वप्रथम स्थान पाने के योग्य।

दान के चार भेद

जैन-शास्त्रो मे दान के चार प्रकार बतलाए हैं—(१) आहार-दान, (२) औषध-दान, (३) ज्ञान-दान और (४) अभय-दान। प्रत्येक का सक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

(१) आहार-दान

देहधारी के लिए सबसे पहली आवश्यकता भोजन की है। जब भूख लगी होती है, तब कुछ भी नही सूझता। अन्न जीवन का प्राण है। जिसने अन्न का दान दिया, उसने सब-कुछ दिया।

घर पर आए हुए ससार-त्यागी साधु-मुनिराजो को विनय-भक्ति के साथ आहार बहराना चाहिए। मुनियो को दान देना अक्षय धर्म को प्राप्त

करता है। सच्चे साधुओं को आहार-दान करने से पाप-कर्मों की बहुत अधिक निर्जरा होती है।

साधुओं के अतिरिक्त किसी भूखे गरीब को भोजन देना भी बहुत बड़े धर्म एवं पुण्य का कार्य है। राजा प्रदेशी ने जैनमुनि केशीकुमार स्वामी के उपदेश से प्रभावित होकर गरीबों के लिए अपने राज्य की आय का चतुर्थांश दान में लगाने का प्रबन्ध किया था। जैन-धर्म विश्व-वेदना का अनुभव सदा से करता आया है। जनता के दुःख-दर्द में बराबर का हिस्सेदार बन कर यथोचित सहायता पहुँचाना उसने अपना महान् कर्तव्य माना है।

(२) औषध-दान

मनुष्य जब रोग-ग्रस्त होता है तब किसी भी काम का नहीं रहता है। न वह यथोचित पुरुषार्थ कर अपना और अपने परिवार का ही पेट पाल सकता है और न अच्छी तरह श्रद्धा-भावना के साथ धर्माराधना ही कर सकता है। मन स्वस्थ होने पर ही सब साधना होती है और मन की स्वस्थता प्रायः तन की स्वस्थता पर निर्भर है। यदि तुम कभी बीमार पड़े हो तो उस समय का अनुभव स्मृति में लाओ। कितनी वेदना होती थी? कितना छटपटाते थे? बस समझ लो सब जीवों को अपने समान ही दुःख होता है। अतएव जैन-धर्म में भोजन-दान का भी औषध-दान का भी बहुत बड़ा महत्त्व है।

आचार्य अमितगति उपासकाचार में कहा है—"औषध-दान का माहात्म्य वचन से वर्णन नहीं किया जा सकता। औषध-दान पाकर जब मनुष्य नीरोग होता है तो एक बार तो सिद्ध भगवान जैसा सुख पा लेता है।"

आचार्य ने यह कथन गौणता की दृष्टि से नहीं है। सिद्ध भगवान्

आध्यात्मिक दृष्टि से नीरोग हैं, तो साधारण संसारी जीव भौतिक दृष्टि से नीरोग होता है। नीरोग होने पर अनाकुलता होती है, और अनाकुलता ही वस्तुत सच्चा सुख है।

जैन-धर्म के एक मर्मी सन्त, सुखो की गणना करते हुए कहते हैं— "पहला सुख निरोगी काया"। रोग-रहित अवस्था पहला सुख माना गया है। ठीक भी है—जब आदमी बीमार होता है तो उसे कुछ भी अच्छा नही लगता। भोजन-पान, राग-रग सब जहर मालूम होने लगते हैं। औषध-दान ही मनुष्य को यह पहला सुख प्रदान करता है। जब कोई रोगी किसी भी औषध से अच्छा हो जाता है, तब कितना आशीर्वाद देता है? यह आशीर्वाद ही मनुष्य को सुख-शान्ति देने वाला होता है।

(३) ज्ञानदान

ज्ञान के बिना मनुष्य अन्धा होता है। यदि किसी अन्धे को आँखें मिल जाये तो देखिये कितना आनन्दित होता है। उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य को विद्या का दान देना, बहुत महत्वपूर्ण दान है। ज्ञान-दान की तुलना चक्षुदान से की गई है।

प्राचीन काल मे नालन्दा आदि विश्व-विद्यालय इसी भावना को लक्ष्य मे रखकर स्थापित किये गये थे, जहाँ भारत के और भारत से बाहर श्याम, जावा, सुमात्रा चीन, तुर्की यूनान आदि देशो के हजारो विद्यार्थी विना किसी भेद-भाव के ज्ञानार्जन करते थे। गरीब विद्यार्थियो के लिए पाठशाला खोलना, पाठशालाओ को दान देना स्कालरशिप देना पुस्तकें वगैरह देना, बोर्डिंग हाउस बनाना आदि सब विद्या-दान मे शामिल होता है।

जैन-धर्म ने इस क्षेत्र मे भी बहुत महत्वपूर्ण भाग लिया है। आचार्य अमित गति ने यहाँ तक कहा— धर्म अर्थ, काम और मोक्ष-चारों ही

पुरुषार्थ विद्या के द्वारा सिद्ध होते हैं। अतः विद्या दान देने वाला चारों ही पुरुषार्थ पाने का अधिकारी है। भगवान महावीर ने भी कहा है—'नाण दाण तवो दया।' अर्थात् पहले ज्ञान है और बाद में दया तप परोपकार आदि सब आचरण है।

(४) अभयदान

अभयदान का अर्थ है—किसी मरते हुए प्राणी को बचाना तथा किसी संकट में पड़े प्राणी का उद्धार करना। यह सर्वश्रेष्ठ दान समझा गया है। भगवान् महावीर के प्रथम उत्तराधिकारी श्री सुधर्मा स्वामी ने कहा है—'दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं' अर्थात् सब दानों में अभयदान श्रेष्ठ है।

अभय-दान जैन-धर्म का तो प्राण है। जैन धर्म की बुनियाद ही अभयदान पर है। आचार्य अमितगति उपासकाचार में कहते हैं—अभयदान पाकर प्राणी को जो सुख होता है वह सुख संसार में न कभी हुआ और न कभी होगा।

दयालु मनुष्य भगवान् का स्थान प्राप्त कर लेता है। भगवान् महावीर ने भी भगवान का पद अभयदान के द्वारा ही प्राप्त किया था। भगवान् ने न अपनी ओर से किसी को कष्ट दिया और न किसी और से दिलवाया। इतना ही नहीं यज्ञ आदि में मारे जाने वाले मूक पशुओं की रक्षा के लिए भी अपना समूचा जीवन लगा दिया। भारत-वर्ष से अश्वमेध आदि हिंसक यज्ञों के अस्तित्व का लोप होने में भगवान् महावीर का यह अभय-दान सम्बन्धी महान् प्रयत्न ही मुख्य कारण था।

अतएव प्रत्येक जैन का कर्तव्य है कि वह जैसे भी बने दुखी जीवों की सहायता करे मरते जीवों की रक्षा करे भूख और प्यास से दम तोड़ते हुए जीवों की अन्न-जल द्वारा प्राण-रक्षा करे। गौशाला एवं

पिंजरापोल आदि के द्वारा मूक पशुओं की सेवा का उचित प्रबन्ध करें, जीव-दया के कार्यों में अधिक-से-अधिक अपने धन का उपयोग करें। आज के हिंसामय युग में दया की गंगा बहाने का आदर्श पाय, यदि जैन नहीं करेंगे तो कौन करेंगे ? जैन जहाँ भी हों, जिस स्थिति में भी हों सर्वत्र अहिंसा और करुणा का वातावरण पैदा कर दें। सच्चा जैन वही है, जिसके स्नेह को पाकर विपद्-ग्रस्त के आँसू बहाते मुख पर भी एक बार तो प्रसन्नता का मधुर हास्य चमक उठे। जैन जहाँ भी हों, जीवन देने वाले के रूप में प्रसिद्ध हों।

दान का महान् फल

दान के ये चार प्रकार केवल वस्तु-स्थिति के निर्देशन के लिए हैं। दान धर्म की सीमा इतने में ही समाप्त नहीं है। जो भी कार्य दूसरे को सुख सुविधा पहुँचाने वाला हो वह सब दान के अन्तर्गत आ जाता है। भगवान महावीर ने पुण्य की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि अन्न, जल, वस्त्र आदि के दान से मनुष्य को स्वर्गादि सुख के देने वाले पुण्य की प्राप्ति होती है। जैन-साहित्य में दान की महिमा और उसका महान् फल बताने वाले हजारों उदाहरण भरे पड़े हैं। कयवन्ना सेठ, शालिभद्र, धन्ना सेठ आदि के कथानक तो बहुत ही प्रसिद्ध हैं। दान का यह विवेचन उन लोगों की आँखें खोलने के लिए है जो यह कहते हैं कि--'जैन धर्म तो निष्क्रिय धर्म है। वह केवल अपने तप और त्याग की भावना में ही सीमित है। जन कल्याण के लिए कोई क्रियात्मक उपदेश उसके पास नहीं है।" कोई भी विचारक देख सकता है कि यह दान का विस्तृत विवेचन जैन-धर्म की सक्रियता सिद्ध करता है या निष्क्रियता। जन-कल्याण के क्षेत्र में जैन-धर्म ने जो विचारधारा दान के विषय में संसार के समक्ष रखी है, वह बेजोड़ है।

सुपात्र और कुपात्र

दान का विवेचन एक प्रकार से समाप्त किया जा चुका है। फिर भी एक दो प्रश्न ऐसे हैं जिन पर विचार कर लेना अतीव आवश्यक है। कुछ लोग कहते हैं—दान धर्म है। परन्तु उसका अधिकारी केवल सुपात्र ही है। और वह सुपात्र और कोई नहीं एकमात्र साधु ही है। अतएव साधु के अतिरिक्त किसी गरीब एवं दुःखी संसारी प्राणी को दान देना अधर्म है धर्म नहीं। संसारी जीव सब कुपात्र हैं। और कुपात्र का दान भव-भ्रमण का कारण है।

दान के सम्बन्ध में यह तर्क सर्वथा असंगत है। क्या सुपात्र एकमात्र साधु ही है और कोई नहीं? क्या गृहस्थ में रह कर सदाचार पूर्वक जीवन बिताने वाले सब लोग कुपात्र हैं? सुपात्र का सम्बन्ध एकमात्र साधु से ही लगाना शास्त्र के अर्थ का अनर्थ करना है। कोई भी सदाचारी जीवन बिताने वाला सुपात्र कहला सकता है। और फिर यह कहाँ का नियम है कि सुपात्र को ही दान देना और किसी गरीब दीन-दुःखी को नहीं? भगवान् महावीर ने तो जैनत्व का एक प्रमुख लक्षण यह भी माना है कि—दुःखी को देखकर मन में अनुकम्पाभाव लाना और यथाशक्य उसका दुःख दूर करने का प्रयत्न करना। यह ठीक है कि सुपात्र को दान देने का बहुत अधिक महत्त्व है। परन्तु जहाँ संकटकाल में किसी प्राणी को सहायता पहुँचाने का प्रश्न हो वहाँ पात्र-अपात्र पर विचार करना किस महान् धर्म का सिद्धान्त है? कम-से-कम जैन-धर्म का हमें पता है। वहाँ तो यह बात भी नहीं है। जैन-धर्म तो प्राणिमात्र के प्रति कल्याण की भावना को लेकर भूमण्डल पर आया है। यह मानव-हृदय में उठने वाली दया की लहर को किसी विशेष जाति विशेष राष्ट्र विशेष पंथ विशेष

सम्प्रदाय अथवा विशेष व्यक्ति की संकुचित सीमा में बांधना नहीं चाहता। जो गरीब भाई तुम्हारे सम्मुख आकर एक रोटी के टुकड़े की आशा प्रकट करे और अपना हाथ फैलाए क्या वह गरीब सुपात्र है? क्या भू-मण्डल पर किसी दुःखी को किसी सुखी से कुछ पाने का अधिकार नहीं है? अभाव ने गरीब को जिस दुरवस्था में डालता है, क्या हम उसे दुःस्थिति में रहने दें? क्या यह मानवता होगी? नहीं कदापि नहीं दीन दुःखी को दान देना, सहयोग करना, कभी भी किसी तरह भी असगत नहीं कहा जा सकता।

क्या गरीबी ईश्वरीय दण्ड है?

भूखे और गरीब प्राणियों को दान देने के विरोध में एक और तर्क है जो बिल्कुल ही अजीब है कुछ दार्शनिक कहते हैं— 'लंगड़े, लूले, दरिद्र कुष्ठी आदि को दान नहीं देना चाहिए, क्योंकि वह परमेश्वर का शापभाजन है ईश्वर उसे उसके पापों का दण्ड दे रहा है। अस्तु, उस पर दया लाकर सहायता पहुंचाना, एक प्रकार से भगवान् की दण्डव्यवस्था का विरोध करना है। ईश्वर जिसको पापी समझ कर सजा देता है उसको अपनी प्राप्त सजा भुगतने देना ही उचित है।

आवश्यकता से अधिक इन बुद्धिमानों ने मान लिया है कि ईश्वर सजा दे रहा है और वह हमारे दान के द्वारा दखल देने से अप्रसन्न होगा। क्या दूर की सूझी है? ईश्वर मारता है तो तुम भी क्यों न मारो बड़े अच्छे सपूत कहलाओगे? जैन-दर्शन कहता है कि प्रथम तो ईश्वर किसी को दण्ड देता है यह सिद्धान्त ही मिथ्या है। ईश्वर वीतराग है राग द्वेष से सर्वथा परे हैं। उसे ऐसी क्या पड़ी है कि व्यर्थ ही बिचारे जीवों को सताता फिरे) ईश्वर को दण्डदाता मानना, पीड़ित प्राणियों के प्रति अपनी सहानुभूति और कर्तव्य की उपेक्षा करना है।

दूसरी बात यह है कि यदि ईश्वर दण्ड दे रहा हो तब भी हमें सहायता करनी चाहिए। जैन-धर्म तो यदि साक्षात् ईश्वर भी सामने आकर रोके तब भी किसी दुःखी की सहायता करने से नहीं रुक सकता। मनुष्य को अपने हृदय में से उठने वाली मानवता की आवाज को सुनना चाहिए फिर ईश्वर भले ही कुछ कहता रहे। क्या इस प्रकार ईश्वर की उपासना का यही अर्थ है कि संसार में कोई गरीब के आँसू पोंछने वाला भी न रहे? सर्वत्र हाहाकार और अत्याचार का ही राज्य रहे। नहीं जैन धर्म ऐसा कभी नहीं होने देगा। वह दीन-बन्धु है अपना सर्वस्व हर दुखित से बचा करेगा।

कुछ मनुष्य जीने के लिए भोजन करते हैं और कुछ भोजन के लिए जीते हैं। पहली कोटि के मनुष्य विवेकी विचारशील धर्मात्मा होते हैं। उनके भोजन मे खाद्य वस्तु और समय का विवेक रहता है।

दूसरी कोटि के मनुष्य पशु की तरह बिना किसी विचार व विवेक के अन्तगत खाते रहते है दिन मे भी और रात मे भी। वे भोजन के अविवेक के कारण अनेक प्रकार के रोगो के शिकार हो जाते हैं और फिर उन्हें कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ता है।

प्रस्तुत निबन्ध मे अमर्यादित एव असामयिक भोजन से होने वाली अनेक हानियों का दिग्दर्शन कराया गया है।

१३

भोजन का विवेक

जीवन के लिए भोजन आवश्यक है। बिना भोजन किये, मनुष्य का दुबल जीवन टिक नही सकता। आखिर मनुष्य अन्न का कीडा जो ठहरा। परन्तु भोजन करने की भी एक सीमा है। जीवन के लिए भोजन है न कि भोजन के लिए जीवन। खेद की बात है कि आज के युग म भोजन के लिए जीवन बन गया है। आज का मनुष्य भोजन

घर भरता है। खाने-पीने के सम्बन्ध में प्राचीन नियम सब भुला दिये गये हैं। जो कुछ भी अच्छा-बुरा सामने आता है मनुष्य झटपट चट करना चाहता है। न मांस से घृणा है न मद्य से परहेज। न भक्ष्य का पता है, न अभक्ष्य का। धर्म की बात तो जाने दीजिए, आज तो भोजन व भोजन के स्वाद के फेर में पड़कर अपने स्वास्थ्य का भी ध्यान नहीं रखा जा रहा है।

आज का मनुष्य प्रातःकाल बिस्तर से उठते ही खाने लगता है और दिन-भर पशुओं की तरह चरता रहता है। घर पर खाता है मित्रों के यहाँ खाता है बाजार में खाता है। और तो क्या दिन छिपते तक खाता है, रात को खाता है और बिस्तर पर सोते-सोते भी दूध का गिलास पेट में उँडेल लेता है। पेट है या कुछ और——।

भोजन के कुछ नियम

भारत के प्राचीन शास्त्रकारों ने भोजन के सम्बन्ध में बड़े ही सुन्दर नियमों का विधान किया है। भोजन में शुद्धता पवित्रता स्वच्छता और स्वास्थ्य का ध्यान रखना चाहिए, स्वाद का नहीं। मांस और शराब आदि अभक्ष्य पदार्थों से सर्वथा घृणा रखनी चाहिए और साथ ही यह शुद्ध भोजन भी भूख लगने पर ही खाना चाहिए। भूख के बिना भोजन का एक कौर भी पेट में डालना अन्न का अपमान नहीं एक प्रकार से पाप का ही प्रचार करना है। भूख लगने पर भी दिन में दो-तीन बार से अधिक भोजन नहीं करना चाहिए। और रात में भोजन करना तो धर्म एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उचित नहीं है।

जैन-धर्म में रात्रि-भोजन के निषेध पर बहुत बल दिया गया है। प्राचीन काल में तो रात्रि-भोजन न करना जैनत्व की पहचान के लिए एक विशिष्ट लक्षण था। रात्रि-भोजन में जैन-धर्म ने हिंसा का दोष बतलाया है।

बहुत से इस प्रकार के छोटे-छोटे सूक्ष्म जीव होते हैं, जो दिन में सूर्य के प्रकाश में तो दृष्टि मे आ सकते हैं, परन्तु रात्रि में तो वे कथमपि दृष्टिगोचर नही हो सकते। रात्रि मे मनुष्य की आँखें निस्तेज हो जाती हैं। अतएव वे सूक्ष्म जीव भोजन मे गिर कर जब दाँतों के नीचे पिस जाते है और अन्दर पेट मे पहुँच जाते हैं, तो बडा ही अनर्थ करते हैं। जिस मनुष्य ने मासाहार का त्याग किया है वह कभी-कभी इस प्रकार मासाहार के दोष से दूषित हो जाता है। बिचारे जीवो की व्यर्थ ही अज्ञानता से हिंसा होती है और अपना नियम भग होता है। कितनी अधिक बिचारने की बात है।

रात्रि भोजन का निषेध क्यों

आज के युग म कुछ मनचले लोग तर्क किया करते हैं—"रात्रि मे भोजन का निषेध सूक्ष्म जीवो को देख सकने के कारण ही किया जाता है न? अगर हम रात मे बिजली जला लें और प्रकाश कर लें, फिर तो कोई हानि नही?" बात यह है कि बिजली जला लेने से रात्रि-भोजन के सम्भावित दोष तो दूर नही हो सकते। पहली बात तो यह है कि बिजली पर अनेक प्रकार के कीट-पतग मँडराते रहते हैं, वे उड़-उड़ कर तुम्हारे भोजन मे भी गिर सकते है। बहुत से सूक्ष्म जीवो का तो पता भी नही चल पाता कि व भोजन के साथ पेट मे कब चले जाएँगे।

दूसरी बात यह है कि स्वास्थ्य के लिए भी रात्रि-भोजन त्याज्य माना है। सूर्य के प्रकाश मे जो ऊष्मा रहती है, वह अन्न को पचाने मे सहयोगी बनती है। दिन मे खाने से भोजन और सोने के समय मे अन्तर भी काफी रह जाता है और इस प्रकार अन्न को ठीक तरह पचने का अवसर मिल जाता है। रात्रि म भोजन करने वाले बहुत-से लोगो की यही आदत हो गई है कि खाया और बिस्तर पर लेटे, इससे न पूरा अन्न

हजम होता है और न उसका रस ही ठीक से बनता है। यही कारण है कि रात्रि में भोजन करने वालों को बदहजमी और कब्ज आदि की अनेक विकायतें होती रहती हैं।

स्वास्थ्य धर्म का मूल सन्तोष में है। इस दृष्टि से भी दिन की अन्य सभी प्रवृत्तियों के साथ भोजन की प्रवृत्ति को भी समाप्त कर देना चाहिए तथा सन्तोष के साथ रात्रि में पेट को पूर्ण विश्राम देना चाहिए। ऐसा करने से भली-भाँति निद्रा आती है। ब्रह्मचर्य पालन में भी सहायता मिलती है और सब प्रकार से आरोग्य की वृद्धि होती है। जैन-धर्म का यह नियम पूर्णतया आध्यात्मिक और वैज्ञानिक दृष्टि को लिए हुए है। आयुर्वेद में भी रात्रि भोजन को बल बुद्धि और आयु का नाश करने वाला बतलाया गया है। रात्रि में हृदय और नाभि-कमल संकुचित हो जाते हैं अतः भोजन का परिपाक अच्छी तरह नहीं हो पाता।

रात्रि-भोजन से प्रत्यक्ष हानियाँ

धर्म-शास्त्र और वैद्यक-शास्त्र की गहराई में न जाकर यदि यह साधारण तौर पर होने वाली रात्रि भोजन की हानियों को देखें तब भी यह सर्वथा अनुचित ठहरता है। भोजन में यदि चींटी खाने में आ जाए तो बुद्धि का नाश होता है, जूं खाई जाए तो जलोदर नामक भयंकर रोग हो जाता है, मक्खी पेट में चली जाए तो वमन हो जाता है, छिपकली खा ली जाए तो कोढ़ हो जाता है, शाक आदि में मिलकर बिच्छू पेट में चला जाए तो वह तालु बेध डालता है और यदि बाल गले में चिपक जाए तो स्वरभंग हो जाता है। इस प्रकार अनेक दोष रात्रि भोजन में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं।

रात्रि का भोजन वास्तव में ही खतरनाक है। एक तो नहीं देख सि

हजारो ही दुर्घटनायें, रात्रि-भोजन के कारण होती है। सैकडो ही लोग अपने जीवन तक से हाथ धो बैठते हैं।

अत रात्रि-भोजन सब प्रकार से त्याज्य है। जैन-धर्म मे तो इसका बहुत ही प्रबल निषेध किया गया है। अन्य धर्मों मे भी इसे आदर की दृष्टि से नही देखा गया है। कूर्म पुराण आदि वैदिक पुराणो मे भी रात्रि भोजन का निषेध है। महात्मा गाँधी ने जीवन के अन्तिम चालीस वर्षो मे रात्रि-भोजन त्याग' को बडी दृढता के साथ निभाया था। यूरोप गए तब भी उन्होने रात्रि भोजन नही किया। प्रत्येक जैन का कर्तव्य है कि रात्रि भोजन का त्याग करे, न रात्रि मे भोजन बनाए और न खाए।

१४

> मांसाहार से मन में क्रूरता उन्माद उत्तेजना और विकार बढ़ते हैं। विकारग्रस्त मनुष्य समाज में अशान्ति और संघर्ष का वातावरण पैदा करता है। व्यक्तिगत सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन की शान्ति के लिए यह आवश्यक है कि मन सात्विक भावनाओं से अनुप्राणित रहे। जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन इस लोकोक्ति के अनुसार सर्वप्रथम आहार की शुद्धि पर ध्यान देना आवश्यक है।

मांसाहार का निषेध

संसार में एक-से-एक भयंकर पाप हमारे सामने हैं। परन्तु मांसाहार का पाप बड़ा ही भयंकर तथा निन्दनीय है। मांसाहार मनुष्य के हृदय की कोमल भावनाओं को नष्ट भ्रष्ट कर उसे पूर्णतया निर्दय और कठोर बना देता है। मांस किसी खेत में नहीं पैदा होता वृक्षों पर नहीं लगता आकाश से नहीं बरसता वह तो चलते-फिरते प्राणियों को मारकर उनके शरीर से प्राप्त होता है। जब आदमी पैर में लगे एक कांटे का दर्द भी सहन नहीं कर सकता दर्द के कारण रात भर छटपटाता रहता है तब भला दूसरे निरपराध मूक जीवों की गर्दन पर छुरी चला देना किस प्रकार न्यायसंगत हो सकता है? जरा शान्त चित्त से ईमानदारी के साथ विचार कीजिए कि उनको कितना भयंकर दर्द होता होगा। अपनी क्षणिक जिह्वा के स्वाद के

१

लिए दूसरे मूक जीवो को मौत के घाट उतार देना, कितना जघन्य आचरण है। जब आदमी किसी को जीवन नहीं दे सकता, तो उसे क्या अधिकार है कि वह दूसरे का जीवन छीन ले ?

आहार-विहार मे होने वाली साधारण जीवो की हिंसा भी जब निन्दनीय मानी जाती है, तब बराबर के साथी उपयोगी पशुओं की हत्या करना तो और भी भयकर बात है। वधिक जब चमचमाता हुआ छुरा लेकर मूक पशुओ की गदन पर फेरता है, उस समय का वह दृश्य कितना भयकर होता होगा ? सहृदय मनुष्य तो उस राक्षसी दृश्य को अपनी आंखो मे देख भी नहीं सकता। खून की धारा बह रही हो मांस का ढेर लग रहा हो, हड्डियां इधर-उधर बिखर रही हो रक्त मे सने हुए चमडे के खण्ड इधर-उधर बिखरे पडे हो, और ऊपर से गीध चील आदि निन्द्य पक्षी मँडरा रहे हो, तो स्पष्ट है कि इस घृणित दशा मे मनुष्य नहीं, राक्षस ही काम कर सकता है। यही कारण है कि यूरोप आदि देशो मे तो प्रतिष्ठित न्यायाधीश कसाई की गवाही भी नही लेते हैं। उनकी दृष्टि मे कसाई इतना निदय हो जाता है कि वह मनुष्य ही नहीं रह जाता । हृदयहीन निदय मनुष्य मे मनुष्यता एव त ;कूल प्रामाणिकता रह भी कहाँ सकती है ?

जैन-धम मे मासाहार का बडी ही दृढ़ता के साथ निषेध किया गया है। करुणा के प्रत्यक्ष अवतार भगवान महावीर ने मासाहार को दुर्व्यसना मे माना है और इसे नरक का कारण बताया है। स्थानाग सूत्र के चौथे स्थान मे बताया है—"**चार कारणो से प्राणी नरक में जाता है—(१) महाआरम्भ करने से (१) महापरिग्रह रखने से (३) पचेन्द्रिय जीवों का वध करने से और (४) मांस-भक्षण करने से ।**"

एक आचार्य ने तो मांस शब्द की व्युत्पत्ति ही बड़ी हृदय-स्पर्शी ढंग से की है। मांस शब्द में दो अक्षर हैं 'मां' और 'स'। 'मां' का अर्थ मुझको होता है 'स' का अर्थ वह होता है। दोनों अक्षरों का मिलकर यह भावार्थ निकलता है कि 'जिसको मैं यहाँ मारकर खाता हूं वह मुझे भी कभी मारकर खायेगा। मांसाहारी लोग इस अर्थ पर गम्भीरता के साथ विचार करें और मांसाहार की प्रवृत्ति को त्याग कर अपने को भावी कष्टों से बचायें।

आजकल कुछ लोग तर्क करते हैं कि 'मनुष्य अन्न खाता है गेहूं आदि के हजारों दाने पीस कर पेट में डाल लेता है क्या इसमें हिंसा नहीं होती ? बकरे आदि मारने में तो एक जीव की हिंसा होती है परन्तु अन्न खाने में तो हजारों जीवों की हिंसा हो जाती है। उत्तर में कहना है कि— गेहूं आदि की बुनियाद पानी और बकरे की बुनियाद वीर्य है। गेहूं अव्यक्त चेतना वाला जीव है और बकरा व्यक्त चेतना वाला। बकरे को मारने वाले के भाव अत्यन्त क्रूर, निर्दय और तामसी होते हैं जबकि गेहूं खाने वाले के ऐसे नहीं होते। अस्तु बकरे को अन्न के दानों से तुलना करना अज्ञानता का ही नहीं मन की क्रूरता का भी परिचायक है। मांस-जैसी अपवित्र अभक्ष्य तामसी चीज की सात्विक अन्न से तुलना कभी हो ही नहीं सकती।

मांस खाना मानव-प्रकृति के भी सर्वथा विरुद्ध है। मनुष्य प्रकृति से शाकाहारी प्राणी है मांसाहारी नहीं। शाकाहारी और मांसाहारी प्राणियों की बनावट में भारी अन्तर होता है। मांसाहारी पशुओं के नाखून दांत नुकीले होते हैं जैसे—कुत्ता बिल्ली सिंह आदि के और शाकाहारी पशुओं के दांत नहीं होते जैसे—हाथी गाय बैल आदि

के । मांसाहारी पशुओ के जबडे लम्बे होते हैं, जबकि शाकाहारियो के गोल । गाय और कुत्ते के जबडो को देखने से यह भेद साफ मालूम हो जायगा । मासाहारी जीव पानी जीभ मे चपल-चपल कर पीते हैं और शाकाहारी ओठ टेक कर । गाय, भैंस बन्दर आदि तथा इनके विपरीत सिंह, बिल्ली, कुत्ता आदि को देखने से यह सब भेद स्पष्ट हो जाता है । इसी प्रकार शाकाहारी जीवो—गाय, घोड़ा, ऊँट आदि के पसीना आना है । इसके विपरीत—बिल्ली शेर, चीता आदि मांसाहारियों को पसीना नही आता ।

आज के विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि बन्दर तथा लगूर एकदम शाकाहारी प्राणी है । जीवन-भर ये फूल-फूल आदि पर गुजारा करते हैं । मनुष्य की आन्तरिक तथा बाह्य बनावट भी हूबहू बन्दर तथा लगूर से मिलती जुलती ह । अत मनुष्य भी नितान्त शाकाहारी प्राणी है । मासाहार की आदत उसने बाह्य विकृति से प्राप्त कर ली है, वह उसकी मूल प्रकृति के अनुकूल नही पडती ।

आर्थिक दृष्टि से भी मासाहार देश के लिए घातक ठहराता है । गाय, भैंस बकरी आदि देश के लिए बड़े ही उपयोगी पशु हैं । मासाहारियो द्वारा इनका सहार करना कितना भयकर हैं। जरा ध्यान से देखने योग्य है ।

उदाहरण के लिए गाय को ही ले लीजिए । अर्थशास्त्रियो ने हिसाब लगाया है कि गाय से हमे दूध, दही, घी, बैल, गोबर आदि मिलते हैं । एक गाय की पूरी पीढ़ी से ४७२,६०० मनुष्यो को सुख पहुँचता है । जीवविज्ञान विशारदो ने गहरी छानबीन के पश्चात् हिसाब लगाया है कि गोवश में से प्रत्येक गाय के दूध का मध्यमान ग्यारह किलो का आता है । उसके दूध देने के समय का औसत बारह महीने

है। अतः प्रत्येक गाय के जन्म-भर के दूध से २४ ९६ मनुष्यों एक बार में तृप्ति होती है। अनुमान के नियमानुसार प्रत्येक से छः बछिया और छः बछड़े मिल जाते हैं। इनमें से यदि एक मर भी जाए तो पाँच बछियों के जीवन-भर के दूध से १ २४ ० व एक बार तृप्त हो सकते हैं। अब रहे पाँच बैल। अपने जीवन में अनुमान के अनुसार कम-से-कम दो हजार मिलाकर अनाज पैदा सकते हैं। यदि प्रत्येक आदमी एक बार में तीन पाव अनाज खाए तो उससे साधारणतया ढाई लाख आदमियों की एक बार में उदर-पूर्ति हो सकती है। बछियाओं के दूध और बैलों के अन्न को मिला देने से ३ ७४ मनुष्यों की भूख एक बार में बुझ सकती है। दोनों संख्याओं को मिलाकर एक गाय की पीढ़ी में ४ ७५ ९९ मनुष्य एक बार में पालित हो जाते हैं।

इतना ही नहीं बैलों से गाड़ियाँ चलती हैं। उनसे सवारी का काम लिया जाता है भार उठाने के काम में भी ये आते हैं। यही कारण है कि भारतीय लोगों ने गाय को 'माता' कह कर पुकारा है।

इसी प्रकार एक बकरी के जन्म-भर के दूध से भी २५,९२ आदमियों का परिपालन एक बार हो सकता है। हाथी घोड़े ऊँट भेड़ आदि प्राणियों से भी इसी प्रकार अनेक उपकार मनुष्य के लिए होते रहते हैं। अतएव इन उपकारी पशुओं को जो लोग मार डालते तथा दूसरों से मरवाने का काम करते हैं उनको परोक्ष रूप से सारे मानव-समाज की हत्या करने वाला ही समझना चाहिए।

स्वास्थ्य की दृष्टि से भी मांस निषिद्ध वस्तु है। प्रायः मांसाहार से कैंसर, दमा पायोरिया गठिया सिर-दर्द मृगी उन्माद अनिद्रा अथवा पथरी आदि भयंकर रोगों का आक्रमण होता है। शारीरिक बल और मानसिक प्रतिभा पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध

मे यूरोप के ब्रुसेल्स विश्वविद्यालय आदि मे जो वैज्ञानिक परीक्षण हुए हैं, उनसे भी मांसाहारियो की अपेक्षा शाकाहारी ही श्रेष्ठ प्रमाणित हुए हैं ।

कहा जाता है—दस हजार विद्यार्थी उपर्युक्त परीक्षण मे सम्मिलित हुए थे। इनमे से पाँच हजार को केवल फल, दूध, अन्न आदि शाकाहार पर और पाँच हजार को मांसाहार पर रखा गया था। छह महीने बाद जाँच करने पर मालूम हुआ कि मांसाहारियो की अपेक्षा शाकाहारी सब बातो मे तेज रहे। शाकाहारियो मे दया, क्षमा, प्रेम आदि गुण प्रकट हुए और मांसाहारियो मे क्रोध, क्रूरता, भीरुता आदि। मांसाहारियो से शाकाहारियो मे बल, सहन शक्ति आदि गुण भी विशेष रूप मे पाये गए। शाकाहारियो में मानसिक शक्ति का विकास भी अच्छा हुआ ।

कि बहुना, धार्मिक सामाजिक, आर्थिक और स्वास्थ्य आदि सभी दृष्टियो से मांसाहार सर्वथा हेय है। जो मनुष्य, मनुष्य कहलाने का अधिकारी है उसे तो मांसभक्षण का सदा के लिए त्याग कर देना चाहिए ।

१५

> साधु जीवन एक महान् आदर्श जीवन है। उसकी उत्कृष्ट साधना अध्यात्म की एक महान् आदर्श साधना है।
>
> प्रस्तुत अध्याय में साधु की आदर्श साधना का एक अति सुन्दर रेखाचित्र उपस्थित है।

आदर्श साधु

आत्म-शान्ति और आत्म-सिद्धि की खोज में
ज्ञान का उज्ज्वल प्रकाशमान प्रदीप लेकर
आत्मा से परमात्मा बनने के पथ पर
अग्रसर हुए पूज्य साधु !
दुनियाँ की ऋद्धि को त्यागकर
आत्म-सिद्धि के अमर साधक !
आपको वन्दन हो ! कोटि-कोटि वन्दन !

× × ×

संसार के बीच से
संस्कारी वातावरण का सृजन कर
साधना के शिखर पर,
जो वेगवती गति से बढ़ रहा है
वही है सच्चा साधु !

× × ×

परम तत्त्व की खोज में
ज्ञान और क्रिया का सम्बल लेकर,

जो आत्मा की पूर्ण शक्ति से सतत गतिमान् रहता है,
वही सच्चा साधु है।

× × ×

साधु अर्थात् समभाव का साधक।
जिसकी साधना का अन्तिम ध्येय 'सिद्धत्व' है
वही है आदर्श साधु।

× × ×

आत्म दर्शन
जिसके जीवन का नित्य रटन हो,
दर्शन-ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय की आराधना हो,
जिसकी सच्ची साधना हो
आत्म-स्वरूप मे
जिसका प्रतिदिन रमण हो।
और विकार-मुक्ति ही
जिसकी जीवन-यात्रा का अन्तिम विश्राम-केन्द्र हो,
वही आदर्श साधु है।

× × ×

आदर्श साधु
क्षमा की जीवित मूर्ति हो।
उसके शान्त हृदय मे
क्रोध की कभी एक क्षीण रेखा भी न उभरे।
चारो ओर शान्ति एव सहज सरलता झलके।
क्षमा के शान्ति-मन्त्र पढ़कर,
जो जगत् मे से कलह और क्षोभ की व्याधि हरने वाला
महान् धन्वतरि बने

और जिसके अंतरंग में
आत्म-तत्व के बोध की जगमगाती ज्योति जागृत हो
वही आदर्श साधु है ।

× × ×

सुन्दर अप्सरा हो अथवा कुरूप कुब्जा
दोनों ही जिसकी दृष्टि में केवल काठ की पुतली है ।
कंचन और कामिनी का सच्चा त्यागी
लोभ और मोह के विषाक्त नाग से जो डिगे नहीं !
सम्राटों का भी सम्राट
और चक्रवर्तियों का भी चक्रवर्ती
अन्तर्जीवन की विपुल आध्यात्म-समृद्धि के
अक्षय-कोष का एकमात्र स्वतन्त्र स्वामी
वही है आदर्श साधु !

× × ×

पाप के फल से नहीं
किन्तु पाप की वृत्ति से ही जो मुक्ति चाहता है
दुरंगी दुनिया के मोहक शब्दों की अपेक्षा
आत्मा की अन्तर्ध्वनि को जो बहुमान देकर चलता है,
अपने सशक्त और स्वतन्त्र विचारों से
जो नया युग नया वातावरण बनाता है,
अपने सरल प्रकाशमय और निष्पाप जीवन से
मानव-समाज को जो जीवन का सच्चा मर्म बताता है
वही आदर्श साधु है ।

× × ×

बंधन के भय से जो भागता नहीं है
किन्तु बंधनों का वास्तविक परिमार्जन करता है
आध्यात्मिक शक्ति के बल से

सकटो पर आधिपत्य स्थापित करता है।
जगत् के विष को शान्तिपूर्वक पीकर बदले मे,
प्रसन्न मुखमुद्रा मे अमृत की वृष्टि करता है,
'शठप्रति शाठ्य कुर्यात्'[1] के स्थान पर,
'शठ प्रति भद्र कुर्यात्'[2] का मुद्रा लेख लेकर,
पत्थर फेंकने वाले पर भी जो पुष्पवृष्टि करता है,
गाली देने वाले को भी आशीर्वाद देता है।
अपकार का बदला उपकार से देकर,
अपनी पूर्ण दिव्यता का दर्शन कराता है,
वही आदर्श साधु है।

× × ×

जिसकी अहिंसात्मक अमृत दृष्टि जगल मे भी मगल करे,
जहर को भी अमृत मे बदल दे,
शत्रु को भी मित्र बना ले,
वही है आदर्श साधु।

× × ×

पापी का नही,
किन्तु जो पापमय मनोदशा को धिक्कारता है,
जिसके धिक्कार मे भी प्रेम हो,
जिसके धिक्कार मे से भी स्नेह का मधु रस झरता हो,
जिसके स्नेह की शीतल धारा,
द्वेष के धधकते दावानल को भी बुझा दे,
जिसके प्रेम का जादू,
पापी के कठोरतम अन्तर को भी पिघला दे,
वही आदर्श साधु है।

---

१ दुर्जन के प्रति दुर्जनता।
२ दुर्जन के प्रति भी सज्जनता।

१६

धर्म-परम्परा का महत्व उसकी तेजस्विता में होता है न कि प्राचीनता में। किन्तु यदि उसकी तेजस्विता सुदीर्घ इतिहास के आधार पर खड़ी है तो वह और भी ज्यादा प्रभावशाली हो जाती है जैसे कि सोने में सुगन्ध।

जैन-धर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध में जन-साधारण में कुछ भ्रान्त धारणाएँ व अज्ञान-मूलक विचार चलते रहे हैं। आइए इतिहास के प्रकाश में उनका निराकरण कर लें।

जैन-धर्म की प्राचीनता

कितने ही जिज्ञासु प्रश्न करते हैं कि जैन-धर्म का आविर्भाव कब हुआ? जैन-धर्म एक नया ही धर्म है या प्राचीन तथा वह किसी अन्य धर्म की शाखा है या एक स्वतन्त्र सनातन धर्म है।

इतिहास की इस पहेली को सैकड़ों विद्वान् सुलझाने में लगे हुए हैं। अब तक अनेक प्रामाणिक तथ्य प्रकाश में आये हैं जिनसे बहुत-सी भ्रान्तियों का निराकरण हो गया है और हो रहा है।

कुछ समय पहले तक अनेक विदेशी विद्वान् और स्वामी दयानन्द जैसे कुछ भारतीय विद्वान् भी जैन-धर्म को बौद्ध-धर्म की एक शाखा बतलाते रहे हैं। उनका कहना था कि बौद्ध-धर्म से जैन धर्म की शाखा निकली है।

किन्तु इतिहास के प्रकाश मे आज ये विचार एक गलतफहमी के सिवाय और कुछ नही रहे हैं।

कुछ विद्वान् जैन-धर्म को एक स्वतन्त्र धर्म अवश्य मानते रहे हैं, किन्तु उनके विचार में इसके सस्थापक भगवान् महावीर स्वामी थे, इसलिए ढाई हजार वर्ष से आगे इसका इतिहास नहीं जाता। कुछ अन्य विद्वान् तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के काल तक जाते हैं, और उन्हें ही जैन-धर्म का प्रवर्तक मानते हैं।

हम प्रस्तुत लेख मे ऐतिहासिक खोजो के आधार पर इन सब भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करके वास्तविक तथ्य समझाने की चेष्टा करेंगे।

जैन-धर्म, बौद्ध-धर्म की शाखा नहीं है

जैन-धर्म को बौद्ध-धर्म की शाखा कहना तो इतिहास की सबसे बडी अज्ञानता है। बौद्ध-साहित्य का अध्ययन करने से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है कि तथागत बुद्ध के समय मे जैन-धर्म की परम्परा बहुत ही गौरवशाली मानी जाती थी। बुद्ध ने स्वय स्थान-स्थान पर भगवान् महावीर को 'निग्गठ नायपुत्त' [1] (निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र) के नाम से सम्बोधित किया है।

दूसरी बात भगवान् पार्श्वनाथ जैन-धर्म के तेईसवें तीर्थंकर हो गए हैं। उनके आचार विचार का बुद्ध के जीवन तथा धर्म पर काफी प्रभाव पडा दिखाई देता है। पार्श्वनाथ के चातुर्याम सवर धर्म का बुद्ध ने अपने मुख से कई स्थानो पर उल्लेख किया है। जैन-साहित्य के अनेक पारिभाषिक शब्द, जैसे—जिन, श्रावक, भिक्षु भिक्खु, निर्वाण

---

[1] मज्झिम-निकाय, पृ० २२५।

आदि बौद्ध-साहित्य में ज्यों के त्यों प्रायः उन्हीं शब्दों में ले लिये गये हैं। इससे स्पष्ट होता है कि बुद्ध के समक्ष जैन-परम्परा विद्यमान थी और उसका तत्कालीन राजवंशों एवं जनता पर अच्छा प्रभाव था।

इससे यह शंका भी निर्मूल हो जाती है कि जैन-धर्म के संस्थापक भगवान् महावीर थे क्योंकि भगवान् महावीर से ढाई-सौ वर्ष पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ हो गये हैं और उनके चातुर्याम धर्म को मानने वाले अनेक राजवंश भगवान् महावीर से पहले ही विद्यमान थे।[1]

भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता के बाद इतने प्रचुर प्रमाण मिल गये हैं कि जैन-धर्म को आधुनिक कहने वाली पुरानी मान्यताएँ अब खण्डित हो गई हैं।

वैदिक परम्परा में जैन-इतिहास के मूल स्वर

जैन-परम्परा के बाईसवें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ जो वासुदेव श्रीकृष्ण के भाई (ताऊ के लड़के) भी थे और फिर धर्म-गुरु भी रहे उनके सम्बन्ध में आज अनेक विद्वान् छान्दोग्य उपनिषद् (प्रपाठक ३ खण्ड १७) आदि के अनुसार यह मान चुके हैं कि भगवान् नेमिनाथ के द्वारा ही श्रीकृष्ण को अहिंसा का उपदेश मिला था। मथुरा से प्राप्त होने वाली भगवान् नेमिनाथ की मूर्तियों में भी श्रीकृष्ण और बलराम का अंकन दोनों ओर पाया गया है इसे सुप्रसिद्ध पुरातत्त्व-विद् विद्वान् स्व० डा० वासुदेव शरण अग्रवाल मान चुके हैं।[2] इसके अतिरिक्त भगवान् नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) का नाम यजुर्वेद में भी आता है।

---

१ श्री जाकोबी 'सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट' जि० ४५ की प्रस्तावना पृ० २१।

२ जैन-साहित्य का इतिहास (कैलाशचन्द्र शास्त्री) प्राक्कथन पृ० १२

भगवान् नेमिनाम के सम्बन्ध में यजुर्वेद का वह मन्त्र यहाँ पर उद्धृत करते हैं—

> वाजस्यनु प्रसव आवभू मा च,
> विश्वा भुवनानि सर्वत ।
> स नेमि राजा परियाति विद्वान,
> प्रजा पुष्टि वर्द्धमानो अस्मै स्वाहा ।।[1]

अर्थात अध्यात्म यज्ञ को प्रकट करने वाले, ससार के सब जीवो को सब प्रकार से यथार्थ उपदेश देने वाले और जिनके उपदेश से जीवों की आत्मा बलवान होती है, उन सर्वज्ञ नेमिनाथ के लिए आहुति समर्पित है।

भगवान् ऋषभदेव वर्तमान कालचक्र के प्रथम तीर्थंकर हैं। एक दृष्टि से यह माना जा सकता है कि इस कालचक्र मे जैन-धर्म के आविकर्ता ऋषभदेव हुए हैं। ऋषभदेव के बडे पुत्र भरत थे, जो इस युग के प्रथम चक्रवर्ती थे और उन्हीं के नाम पर श्रीमद्भागवत (५/४) के उल्लेखानुसार इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ। इस सम्बन्ध में हम अधिक विस्तार न करके कुछ विद्वानों के विचार यहाँ प्रस्तुत कर देते हैं।

विश्व के महान दार्शनिक राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् अपने 'भारतीय दर्शन का इतिहास' नामक महान् ग्रन्थ मे लिखते हैं— "जैन-परम्परा ऋषभदेव से अपनी उत्पत्ति का कथन करती है, जो बहुत सी शताब्दियो पूर्व हुए हैं। इस बात के प्रमाण पाये जाते हैं कि

---

१ (वाजसनेयि-माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता, अध्याय ६ मन्त्र २५) यजुर्वेद सातवलेकर संस्करण (विक्रम १९८४)

ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा होती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जैन-धर्म वर्धमान और पार्श्वनाथ से भी पहले प्रचलित था। यजुर्वेद में ऋषभदेव अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों के नाम आते हैं। भागवत पुराण भी इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैन-धर्म के संस्थापक थे।"[1]

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री जयचन्द्र विद्यालंकार जैन-धर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध में अपने विचार लिखते हैं— जैन-धर्म बहुत प्राचीन है और महावीर से पहले तेईस तीर्थंकर हो चुके हैं जो उस धर्म के प्रवर्तक एवं प्रचारक थे। सबसे पहला तीर्थंकर राजा ऋषभदेव था जिसके एक पुत्र भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ।

भगवान् ऋषभदेव की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में विद्वानों ने जो मत व्यक्त किये हैं वे भारतीय धर्मग्रन्थों एवं सांस्कृतिक परम्परा के गम्भीर अध्ययन पर आधारित हैं। ऋग्वेद में अनेक मन्त्रों में भगवान् ऋषभदेव की प्रार्थना-स्तुति मिलती है।

ऋग्वेद का एक मन्त्र देखिए—

एवा बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषे न हंसि।"

—ऋग्वेद २ ३३ १५[3] ([illegible])

अर्थात् हे वृषभ! ऐसी कृपा करो कि हमें कभी कष्ट न हो।

भारतीय-साहित्य और संस्कृति के महान् ग्रन्थ योगवाशिष्ठ में श्री रामचन्द्रजी अपनी हार्दिक इच्छा व्यक्त करते हुए कहते हैं कि

---

१ भारतीय दर्शन का इतिहास (जि १ पृ २)

२ भारतीय इतिहास की रूपरेखा (पृ ३४७)

३ ऋग्वेद सातवलेकर संस्करण (सन् १९४)

मुझे किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं है, मैं तो जिन (वीतराग) की तरह अपने आप में शांति-लाभ प्राप्त करना चाहता हूं—

> नाह रामो न मे वाञ्छा भावेषु न च मे मन ।
> शन्त आसितु निच्छामि स्वात्मनीव जिनो यथा ।।[1]

इस उद्धरण से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी के समय से भी पहले जैन-तीर्थकरो के पवित्र जीवन की छाप भारतीय जनमानस पर अंकित थी। इतिहासकारो की धारणा के अनुसार रामचन्द्रजी को हुए ग्यारह लाख वर्ष हो गए।

पुराण-साहित्य मे भी स्थान-स्थान पर जैन-तीर्थंकरो के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के उल्लेख मिलते हैं।

इन उदाहरणो से यह ज्ञात होता है कि वैदिक-संस्कृति की तरह जैन-संस्कृति भी अत्यन्त प्राचीन है एवं उसका अन्य संस्कृति तथा धर्मों पर महत्वपूर्ण प्रभाव रहा है।

अनुसन्धान के आलोक मे

धर्म ग्रन्थो के आधार के साथ ही आज प्राचीन स्थलो की खुदाइयो मे भी ऐसे चिन्ह प्राप्त हो रहे हैं, जिनसे जैन धर्म का मूल शैव-धर्म की तरह ताम्रयुगीन सिन्धु सभ्यता तक जा रहा है। हम अनुसंधान के आलोक मे उन तथ्यो को भी समझने का प्रयत्न करेंगे।

---

१ योगवासिष्ठ (वैराग्य प्रकरण १५), निर्णयसागर प्रेस बम्बई से मुद्रित (सन् १९१८)।

कुछ समय पूर्व मोअन-जो-दड़ो[1] की खुदाई में एक ऐसी प्राचीन मूर्ति प्राप्त हुई है जो कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित है। इस सम्बन्ध में पुरातत्त्व के प्रख्यात विद्वान श्री रामप्रसाद चन्दा लिखते हैं— सिन्धु घाटी से प्राप्त मुहरों पर बैठी अवस्था में अंकित देवताओं की मूर्तियाँ ही योग की मुद्रा में नहीं हैं किन्तु खड़ी अवस्था में अंकित मूर्तियाँ भी योग की कायोत्सर्ग मुद्रा को सूचित करती हैं जिसका निर्देश ऊपर किया गया है। मथुरा म्यूजियम में दूसरी शती की कायोत्सर्ग में स्थित एक 'वृषभदेव जिन' की मूर्ति है। इस मूर्ति की शैली से सिन्धु से प्राप्त मुहरों पर अंकित खड़ी हुई देवमूर्तियों की शैली बिल्कुल मिलती है।'[2]

श्री चन्दा के लेख पर टिप्पणी करते हुए पुरातत्त्व के अधिकारी विद्वान डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखा है— यह मुद्रा जैन-योगियों की तपश्चर्या में विशेष रूप से मिलती है, जैसे मथुरा संग्रहालय में स्थापित तीर्थंकर श्री ऋषभदेव की मूर्ति। यदि ऐसा हो तो शैव-धर्म की तरह जैन-धर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु-सभ्यता तक चला जाता है। इससे सिन्धु-सभ्यता एवं ऐतिहासिक भारतीय-सभ्यता के बीच की खोई हुई कड़ी का भी एक उभय साधारण सांस्कृतिक-परम्परा के रूप में कुछ उद्धार हो जाता है।"[3]

उपर्युक्त अनुसंधानों के आधार पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि

---

१ यह सिन्धी भाषा का शब्द है—मोअन=मरे हुए या मुर्दे, जो=का, दड़ो=ढूहा या टीला। ध्वनिसाम्य के कारण कुछ लोग अज्ञानवश मोअन को मोहन कह जाते हैं।

२ मॉडर्न रिव्यू जून १९३२ श्री आर. पी. चन्दा का लेख।

३ हिन्दू सभ्यता पृ. २३-२४

१७

> यही आदर्श जीवन है और यही सच्चा जैन-जीवन है जिसके कण-कण और क्षण-क्षण में धर्म की भावना झलकती हो। धर्ममय जीवन के आदर्शों का यह सत्य चित्र प्रस्तुत है— 'जैन जीवन' में।

जैन-जीवन

जैन भूख से कम खाता है।
जैन बहुत कम बोलता है।
जैन व्यर्थ नहीं हँसता है।
जैन बड़ों की आज्ञा मानता है।
जैन सदा उद्यमशील रहता है।

\+ +

जैन गरीबों से नहीं शर्माता।
जैन वैभव पाकर नहीं अकड़ता।
जैन किसी पर नहीं झुँझलाता।
जैन किसी से छल-कपट नहीं करता।
जैन सत्य के समर्थन में किसी से नहीं डरता।

\+ +

जैन हृदय से उदार होता है।
जैन हित-मित-मधुर बोलता है।
जैन संकट-काल में हँसता है।
जैन अभ्युदय में भी नम्र रहता है।

\+ +

अज्ञानी को जीवन-निर्माणाय ज्ञान देना मानवता है।
ज्ञान के साधन विद्यालय आदि खोलना मानवता है।

\+ + +

भूखे-प्यासे को सन्तुष्ट करना मानवता है।
भूले हुए को मार्ग बताना मानवता है।
जैन मानवता का मंगल प्रतीक है।

— — —

जहाँ विवेक होता है वहाँ प्रमाद नही होता।
जहाँ विवेक होता है वहाँ लोभ नही होता।
जहाँ विवेक होता है वहाँ स्वार्थ नहीं होता।
जहाँ विवेक होता है वहाँ अज्ञान नही होता।
जैन विवेक का आराधक होता है।

— + —

प्रतिदिन विचार करो कि मन से क्या-क्या दोष हुए हैं।
प्रतिदिन विचार करो कि वचन से क्या-क्या दोष हुए हैं।
प्रतिदिन विचार करो कि शरीर से क्या-क्या दोष हुए हैं।

— — —

सुख का मूल धर्म है।
धर्म का मूल दया है।
दया का मूल विवेक है।

— — —

विवेक से उठो।
विवेक से चलो।
विवेक से बोलो।

विवेक से खाओ ।
विवेक से सब काम करो ।

पढ़ने-बोलने में मर्यादा रखो ।
घूमने-फिरने में मर्यादा रखो ।
सोने-बैठने में मर्यादा रखो ।
बड़े-छोटे की मर्यादा रखो ।

मन से दूसरे का भला चाहना परोपकार है ।
वचन से दूसरे को हित-शिक्षा देना परोपकार है ।
शरीर से दूसरे की सहायता करना परोपकार है ।
धन से किसी का दुःख दूर करना परोपकार है ।
भूखे-प्यासे को सन्तुष्ट करना परोपकार है ।
भूले हुए को मार्ग बताना परोपकार है ।
अज्ञानी को ज्ञान देना या दिलाना परोपकार है ।
ज्ञान के साधन विद्यालय आदि खोलना परोपकार है ।
लोक-हित के कार्यों में सहर्ष सहयोग देना परोपकार है ।

बिना परोपकार के जीवन निरर्थक है ।
बिना परोपकार के दिन निरर्थक है ।
जहाँ परोपकार नहीं वहाँ मनुष्यत्व नहीं ।
जहाँ परोपकार नहीं वहाँ धर्म नहीं ।
परोपकार की जड़ कोमल हृदय है ।
परोपकार का फल विश्व-आदर है ।

परोपकार कल करना हो, तो आज करो।
परोपकार आज करना हो, तो अब करो।

— — —

विना धन के भी परोपकार हो सकता है।
किन्तु विना मन के परोपकार नहीं हो सकता।

— — —

धन का मोह परोपकार नहीं होने देता।
शरीर का मोह परोपकार नहीं होने देता।

— — —

परोपकार करने के लिए जो धनी होने की राह देखे, वह मूर्ख है।
बदले की आशा से जो परोपकार करे, वह मूर्ख है।
विना स्नेह और प्रेम के जो परोपकार करे, वह मूर्ख है।

— — —

भोजन के लिए जीवन नहीं किन्तु जीवन के लिए भोजन है।
धन के लिए जीवन नहीं किन्तु जीवन के लिए धन है।
धन से जितना अधिक मोह उतना ही पतन।
धन से जितना कम मोह, उतना ही उत्थान।

१८

जैन-धर्म की पृष्ठभूमि के रूप में इतिहास परम्परा और प्राचीनता के सम्बन्ध में पिछले अध्यायों में बताया गया है अब उसका तात्त्विक एवं दार्शनिक स्वरूप भी समझना है अतः सर्वप्रथम तत्त्वस्वरूप की जानकारी के लिए पढ़िए प्रस्तुत निबन्ध।

तत्त्व-विवेचन

'तत्त्व' शब्द हमारे व्यवहार में इतना अधिक प्रचलित और व्यापक बन गया है कि उसकी परिभाषा करने की कोई आवश्यकता नहीं रह गई है। फिर भी भाषिक दृष्टि से संक्षेप में विचार करें तो उसका अर्थ होगा—'तस्य भावः तत्त्वम्'—अर्थात् अस्तित्वहीन काल्पनिक वस्तु को नहीं सद्भूत वस्तु को तत्त्व कहा जाता है। जैन-दर्शन के अनुसार, असत् से सत् का निर्माण नहीं होता। अभाव से भाव की स्थिति नहीं होती। गधे के सिर पर सींग की तरह जो असत् हो वह तत्त्व कैसे हो सकता है?

तत्त्व का एक और भी व्यावहारिक अर्थ है। वह यह कि जैन-धर्म साधना का धर्म है। वह अनादि काल से चले आ रहे आत्मा के अशुद्ध रूप को दूर कर शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि का मार्ग प्रस्तुत करता है। अतः स्वरूप-साधना की दृष्टि से सर्वप्रथम चैतन्य और जड़ का भेद विज्ञान आवश्यक है। इसके साथ ही चैतन्य और जड़ का परस्पर संयोग वियोग एवं संयोग-वियोग के हेतुओं का परिज्ञान भी जरूरी है। अस्तु साधक को बन्धन-मुक्त होने के लिए, आत्मा

और उसकी शुद्ध एवं अशुद्ध आदि जिन विभिन्न स्थितियों का परि-बोध अनिवार्य रूप से अपेक्षित है, वे सब भी दर्शन के क्षेत्र में तत्त्व कहे जाते हैं। जैन-तत्त्वज्ञान की भी यही आधारशिला है।

तत्वों की संख्या

अब प्रश्न यह है कि तत्त्व कितने हैं। इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न शैली में दिया गया है। संक्षेप और विस्तार की अपेक्षा मुख्य रूप से तत्त्व-प्रतिपादन की तीन शैली हैं—

(१) पहली शैली के अनुसार तत्व दो हैं—जीव और अजीव

(२) दूसरी शैली मे तत्वों की संख्या सात गिनाई जाती है—

(१) जीव (२) अजीव, (३) आस्रव, (४) बन्ध, (५) संवर, (६) निर्जरा और (७) मोक्ष।

(३) तीसरी शैली में विस्तार से प्रतिपादन करके तत्वों की संख्या नौ बताई गई है—(१) जीव, (२) अजीव, (३) पुण्य, (४) पाप (५) आस्रव (६) बंध (७) संवर, (८) निर्जरा और (९) मोक्ष।

पहली दूसरी शैली प्रधान रूप से दर्शन ग्रन्थों मे मिलती है, और तीसरी शैली आगम ग्रन्थों में। आगम तथा तत्सम्बन्धी ग्रन्थों मे नव-तत्व अथवा नवपदार्थ के नाम से तत्वों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

जीव-अजीव

नवतत्व में सबसे पहला तत्व 'जीव' है। जीव की परिभाषा करते हुए उत्तराध्ययन सूत्र मे बताया है—'जीवो उवओग-लक्खणो' जीव का मुख्य लक्षण उपयोग=ज्ञान-चेतना है। अर्थात् जिसमे ज्ञान है वह जीव है।

जीव को चैतन्य भी इसीलिए कहते हैं कि उसमें सुख-दुःख अनुकूलता प्रतिकूलता आदि की अनुभूति करने की क्षमता है। चूँकि उसमें ज्ञान है अतः वह अपने हित-अहित का अवबोध कर सकता है।

उपर्युक्त स्वरूप के विपरीत जिसमें ज्ञान-चेतना नहीं है वह अजीव है। अजीव को जड़ भी कहते हैं सांख्य-दर्शन में इसी जड़ का प्रकृति के नाम से वर्णन किया गया है।

जगत् के समस्त पदार्थों को इन दो तत्त्व में बाँटा जा सकता है। जितने भी प्राणी हैं चाहे वे कीट-पतंग आदि त्रस (जंगम) हैं या वनस्पति आदि स्थावर हैं सूक्ष्म हैं या बादर (स्थूल) हैं देव नारक हैं या तिर्यञ्च (पशुपक्षी आदि) और मनुष्य हैं जिनमें भी चेतना है तथा अनुभूति करने की क्षमता है फिर भले ही वह व्यक्त हो या अव्यक्त वे सब जीव हैं।

इसके विपरीत जगत् के समस्त जड़ पदार्थ ईंट चूना पत्थर, लकड़ी कागज लोहा सोना चाँदी आदि जितनी भी भौतिक वस्तुएँ तथा आकाश काल आदि अमूर्त जड़ द्रव्य हैं वे सब अजीव कोटि में आते हैं।

पुण्य-पाप

शुभ कर्म को पुण्य कहते हैं और अशुभ कर्म को पाप। ये भी अजीव हैं।

प्रश्न हो सकता है कि शुभ और अशुभ कर्म तो आत्मा का शुभाशुभ भावरूप प्रवृत्तियाँ हैं इन्हें अजीव क्यों कहा गया। जीव की आन्तरिक भावप्रवृत्ति जीवरूप ही होती है अजीवरूप नहीं।

इसका समाधान यह है कि आत्मा की शुभाशुभ वृत्ति एवं प्रवृत्ति को तो मन अथवा कार्मण योग आस्रव के अन्तर्गत रखा गया

है। यहा पर पुण्य-पाप से इतना ही अपेक्षित है कि शुभाशुभ प्रवृत्ति के द्वारा जो कर्म पुद्गल आत्मा के साथ सम्बद्ध होते हैं, शुभ कर्म के पुद्गल पुण्य, और अशुभ कर्म के पुद्गल पाप सज्ञा से सूचित किये गये हैं। आत्मा की शुभाशुभ भावरूप प्रवृत्ति को भाव पुण्य-पाप कहते हैं और प्रवृत्ति के अन्तर आत्मा के साथ जड कर्म के रूप मे पुद्गलो का जो सम्बन्ध होता है, वह द्रव्य रूप पुण्य-पाप है। इस प्रकार भावरूप पुण्य-पाप जीव के क्षेत्र मे आते हैं और द्रव्य रूप पुण्य-पाप अजीव जड के रूप मे।

पुण्य के कारण असख्य है, फिर भी सक्षेप दृष्टि से दीन दुखी को देखकर करुणा से द्रवित हो जाना, उनकी सेवा करना, गुणीजनो के प्रति प्रमोद भाव रखना, भगवान् की स्तुति करना, हितकारी मधुर बचन बोलना, दान देना, परोपकार करना इत्यादि पुण्य के अनेक भेद किये गये हैं।

पाप के कारण भी यो तो असख्य हैं, फिर भी सक्षेप मे—हिंसा, असत्य चोरी, अब्रह्मचर्य परिग्रह, क्रोध, अहकार, कपट, लोभ, परिनिंदा ईर्ष्या चुगली आलस्य आदि पाप के कारण हैं।

आस्रव

जिन कारणो से आत्मा मे कर्ममल आते हैं उन कारणो से जैन-परिभाषा मे आस्रव कहा जाता है। एक रूपक की भाषा में बताया गया है कि आत्मा रूप तालाब है, उस तालाब मे कर्म-रूप जल हिंसा, असत्य आदि आस्रव नाली से आकर भरता रहता है। इसका अर्थ हुआ—आस्रव आत्मा मे कर्म के आने का द्वार अथवा मार्ग है।

आस्रव के पाँच भेद किये है—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरत, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग।

मिथ्यात्व का अर्थ है विपरीत श्रद्धा। अज्ञान, मताग्रह एव अभि-

निषेध आदि के कारण जब तक विचार दृष्टि सत्याभिमुखी नहीं होती तब तक सत्य श्रद्धा प्राप्त नहीं हो सकती। शरीर आदि जड़ में चैतन्य बुद्धि असत्य में तत्त्व-बुद्धि और अधर्म में धर्म-बुद्धि आदि की विपरीत भावना एवं प्रसन्नता मिथ्यात्व है।

इसी प्रकार अविरत—त्याग भावना का अभाव प्रमाद—सत्कर्म में अनुत्साह कषाय—क्रोध मान माया लोभ और योग मन वचन तथा शरीर की शुभाशुभ प्रवृत्ति आस्रव है।

प्रश्न हो सकता है कि पहले चार आस्रव तो सदा बुरे ही हैं अतः वे तो आस्रव ठीक हैं परन्तु इनके साथ योग को भी आस्रव क्यों कहा जाता है यह तो अच्छा भी होता है।

इसका उत्तर यह है कि योग आस्रव के दो भेद किये गये हैं—शुभ-योग आस्रव और अशुभयोग आस्रव। आत्मा जब परोपकार करुणा सेवा आदि सत्कर्म में प्रवृत्त होता है तब शुभयोग आस्रव होता है, उससे पुण्यकर्म का बंध होता है। इसके विपरीत जब आत्मा हिंसा झूठ आदि असत्कर्म में प्रवृत्त होता है तब अशुभयोग आस्रव होता है उससे आत्मा पाप कर्म का बंध करता है। पाप सर्वथा हेय है पुण्य प्रारम्भिक भूमिका में उपादेय है।

अध्यात्म-दृष्टि से पुण्य-पाप दोनों ही बन्धन हैं अतः हेय। बन्धन की दृष्टि से सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी में कोई अन्तर नहीं है। शुभ-अशुभ से हटकर शुद्ध दशा में आना यही आत्मा का धर्म है। शुभ-अशुभ में विकल्प भाव है सकाम भी है। निर्विकल्प एवं निष्काम भाव ही धर्म है जो आत्मा को बन्धन-मुक्त करता है।

शुभ-अशुभ कर्म जब आत्मा के साथ सम्बन्धित होते हैं—जिसे कर्म का लगना कहते हैं उस—अवस्था को बन्ध कहा गया है। आस्रव से आगत

है कि जिस प्रकार कोई आदमी मिट्टी के दो गोले बनाए, एक गीला और दूसरा सूखा। जब गीले गोले को किसी दीवार पर मारा जाएगा, तो वह तुरन्त दीवार से चिपक जाएगा और बहुत समय तक उसके साथ लगा रहेगा। किन्तु सूखा गोला जब दीवार से टकरायेगा, तो वह शीघ्र ही जमीन पर गिर जायेगा दीवार के साथ अधिक समय तक चिपक कर नहीं रह सकेगा।

इस उदाहरण से कर्म बन्ध की स्थिति को इस प्रकार समझाया गया है कि जब आत्मा के परिणामों में राग-द्वेष रूप गीलापन होगा, तो उस दशा में होने वाला कर्म बन्ध गीले गोले की तरह आत्मा के साथ अधिक समय तक सम्बन्ध बनाये रहेगा और आत्मा की शक्तियों को ढँके रखेगा। इसके विपरीत जब कि राग द्वेष की मन्दता होगी तो उस दशा में किये गये कर्म आत्मा के साथ सूखे गोले की तरह सम्बन्ध करेंगे, जो अल्पकालिक और अल्पप्रभाव वाले होंगे।

इसलिए यह कहा गया है कि कर्म करते और भोगते समय उसमें आसक्त नहीं होना चाहिए जिससे कि प्रथम तो कर्म बन्ध हो ही नहीं और यदि हो भी तो अधिक प्रभावशाली न हो।

कर्म-बन्ध के स्वरूप को समझने के लिए दूसरा उदाहरण यह दिया जाता है कि—जैसे कोई व्यक्ति शरीर पर तेल लगाकर धूल में लेटता है तो धूल उसके शरीर से चिपक जाती है। इसी प्रकार कषाय और योग के कारण जब आत्मप्रदेशों में कम्पन होता है, तब आत्मा के साथ कर्मवर्गणाओं का सम्बन्ध होता है, जो क्षीर-नीर अर्थात् दूध-पानी की तरह भिन्न-भिन्न होते हुए भी एकाकार दिखलाई पड़ता है।

बन्ध के चार भेद किये गये हैं, जो कर्मों के भिन्न-भिन्न स्वरूप, समय, मन्दता और तीव्रता आदि की सूचना देते हैं। उनके नाम हैं—

(१) प्रकृतिबन्ध (२) स्थितिबन्ध (३) अनुभागबन्ध (रसबन्ध) और (४) प्रदेशबन्ध।

मिथ्यात्व आदि पूर्वोक्त पाँच आस्रवों से कर्म-बन्ध होता है किन्तु मुख्य रूप से कषाय (क्रोध-मान-माया लोभ) और योग (मन आदि की प्रवृत्ति को ही बन्ध का कारण माना गया है।

संवर

आस्रव का विरोधी तत्त्व 'संवर' है। संवर का अर्थ है—कर्म आने के द्वार को रोकना तथा शुभाशुभ रूप सकाम प्रवृत्ति से निवृत्त होना।

पहले दिये गये उदाहरण में बताया गया है कि आस्रव कर्म रूप जल के आने की एक नाली है उसी नाली को रोककर कर्म रूप जल के आने का रास्ता बन्द कर देना संवर है।

संवर एक निरोधक तत्त्व है। उसका कार्य आत्मा की राग-द्वेष-मूलक अशुद्ध प्रवृत्तियों को रोकना है।

हिंसा से निवृत्त होना—अहिंसा संवर है इसी प्रकार असत्य आदि से विरत होना सत्य आदि संवर होते हैं। जैनपरिभाषा में इनके निम्न नाम हैं—

हिंसा से विरत होना—प्राणातिपातविरमण संवर है।

असत्य से विरत होना—मृषावादविरमण संवर है।

चोरी से विरत होना—अदत्तादानविरमण संवर है।

मैथुन से विरत होना—मैथुनविरमण संवर है।

परिग्रह से विरत होना—परिग्रहविरमण संवर है।

इसी प्रकार पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करना अव्रती से व्रती होना अप्रमाद तथा क्रोध मान आदि कषाय से विरत होना एवं मन वचन और काय पर संयम करना संवर है। संवर के कुल बीस भेद बताये गए हैं।

जब तक आत्मा को बहिर्मुख प्रवृत्ति से रोका नही जाता, तब तक आत्मशुद्धि का प्रयत्न सफल नही हो मकता। कल्पना कीजिए—एक आदमी किसी तालाब को खाली करने के लिए उमका पानी उलीच-उलीच कर बाहर कर रहा है दिन-रात कडा परिश्रम कर रहा है, किन्तु एक ओर ज्यो ज्यो पानी निकल रहा है, त्यो-त्यो दूसरी ओर उसके नालो से धकाधक पानी आता जा रहा है। इम प्रकार तालाब जितना खाली होता है उससे कही अधिक भरता जा रहा है। इस स्थिति से कितना ही प्रयत्न किया जाये किन्तु क्या कभी तालाब के खाली होने की सम्भावना है? नही! जब नालो को बन्द करके पानी उलीचा जाएगा तभी तालाब खाली हो मकता है।

वही रूपक मवर का है। तालाब रूपी आत्मा मे कमरूप पानी भरा है और वह आगे भी आस्रवरूप नाली द्वारा दिन-रात भरता ही जा रहा है। तप (निजरा) आदि के द्वारा कमजल को उलीच कर निकालने का प्रयत्न किया जाता है पर जब तक सवर रूप में आस्रव निरोध (नाला बन्द) नही किया जाएगा तब तक कम-जल से आत्म-सरोवर खाली नही हो मकता।

साधना की दृष्टि से सवर की कितनी उपादेयता है, वह इस दृष्टान्त से स्पष्ट ममझा जा मकता है।

निजरा

सवर के बाद निजरा तत्व का स्थान है निजरा का अर्थ है—कर्मवर्गणा का अश रूप मे आत्मा से दूर हो जाना। बोलचाल की भाषा मे कहा जाए तो यो कह मकते है कि जिस प्रकार वस्त्र मे मैल साफ हो जाता है, वृक्ष से फल झड जाता है, उसी प्रकार आत्मा से कर्मफल का दूर हो जाना निर्जरा है।

निजरा के दो प्रकार हैं—सकाम निजरा और अकाम निर्जरा। सवर

ज्ञान की विवेकपूर्वक साधना करके जो तप आदि किया जाता है वह सकाम निर्जरा में आता है। और बिना ज्ञान तथा बिना संयम के जो तप आदि किया जाता है वह अकाम निर्जरा है। जैन-दर्शन विवेक और संयम के बिना किये जाने वाले अनशन आदि तप को बालतप कहता है। बालतप पुण्य-बन्ध का हेतु हो सकता है परन्तु उससे बन्धन-मुक्ति नहीं होती आत्मशुद्धि नहीं होती।

आत्मा के ऊपर कर्मों का जो आवरण छाया हुआ है उन्हें तपस्या आदि के द्वारा क्षय किया जाता है। बाह्य और आभ्यन्तर रूप से तप के बारह भेद बताये गए हैं इस दृष्टि से निर्जरा के भी बारह भेद हो जाते हैं।

अनशन (उपवास आदि) ऊनोदर (भूख से कम खाना) भिक्षाचरी (निर्दोष भिक्षा) रस त्याग (स्वादिष्ट भोजन का परिहार) काय क्लेश (आसन आदि शारीरिक कष्ट)—ये सब बाह्य तप की कोटि में आते हैं।

यह तप-साधना व्यवहार में प्रत्यक्ष दिखाई देती है, तथा दर्शक पर तुरन्त अपना प्रभाव भी डालती है इसलिए इसे तप-साधना का बाह्य तप कहा गया है।

प्रायश्चित्त (संयम में लगे दोषों का प्रक्षालन) विनय वैयावृत्य (सेवा) स्वाध्याय ध्यान (आत्मनिरीक्षण) व्युत्सर्ग (बाह्य उपाधि और सुविधाओं का परित्याग) आत्मशुद्धि की उक्त आन्तरिक धारा को आभ्यन्तर तप कहा गया है।

आभ्यन्तर तप भले ही प्रकट में दिखाई न दें किन्तु आत्मशुद्धि की दृष्टि से उसका बहुत अधिक महत्त्व है।

मोक्ष

मोक्ष तत्त्वों में नौवाँ तथा आखिरी तत्त्व है। आध्यात्मिक दृष्टि

मे भी यह माधना का परम विन्दु है। मोक्ष का सीधा अर्थ है—ममस्त कर्मों मे मुक्ति। तात्विक दृष्टि म कहा जाय, तो आत्मा का अपने शुद्ध म्वरूप मे सदा के लिए स्थित हो जाना ही मुक्ति या मोक्ष है।

निजरा की व्याख्या मे बताया गया है कि अंशरूप मे आत्मा पर से कर्म-मल का दूर हटना निर्जरा है। और यहाँ पर आत्मा से कर्ममल सर्वथा दूर हो जाते हैं तो उसे मोक्ष कहा जाता है। अथ हुआ कर्मों से आंशिक मुक्ति निजरा है और सवथा मुक्ति मोक्ष है।

मोक्ष या मुक्ति कोई स्थान या वस्तुविशेष नही है किन्तु आत्मा का अपना शुद्ध अधिकारी चिन्मयस्वरूप ही मुक्ति है। जब तक कर्म पूर्णरूप से क्षय नही होते, तब तक यह शुद्ध रूप स्वरूप कर्मों से आवृत रहता है जैसे बादलो से सूर्य। किन्तु कर्मों के समस्त आवरण हटते ही आत्मा का शुद्ध रूप प्रकट हो जाता है, जैसे बादलो के हटने से सूर्य अपनी सहस्रों किरणो के साथ चमकने लग जाता है। सूर्य पर बादल पुन आ सकते है किन्तु आत्मा एक बार कर्ममुक्त होने के बाद फिर कभी कर्मों से आवृत नही हो सकता।

मोक्ष आत्मा के विकास की पूर्ण अवस्था है। चूँकि पूर्णता मे कोई भेद नही होता, इसलिए मोक्ष का कोई भेद और प्रकार नही है। मोक्ष के जितने भी भेद बताये गए हैं, वे सब मोक्षप्राप्ति के साधनरूप तथा अवस्थाभेद के कारण बताये गए हैं, वे भेद पूर्व अवस्था की दृष्टि से ही हैं।

आध्यात्मिक समता और समानता का अखण्ड साम्राज्य मोक्ष मे ही है।

१९

किसी को मारना या कष्ट देना मात्र ही हिंसा नहीं है। हिंसा के अनेक रूप हमारे जीवन में इस प्रकार घुल गए हैं कि उन्हें पहचानना भी कठिन हो गया है। हिंसा के सूक्ष्म रूपों का दिग्दर्शन प्रस्तुत प्रकरण में कराया गया है।

हिंसा

किसी जीव को सताना हिंसा है।
झूठ बोलना, कटु बोलना हिंसा है।
दंभ करना, धोखा देना हिंसा है।
किसी की चुगली करना हिंसा है।

— — —

किसी का बुरा चाहना हिंसा है।
दुःख होने पर रोना-पीटना हिंसा है।
सुख में अहंकार से अकड़ना हिंसा है।
किसी की निन्दा या बुराई करना हिंसा है।

— — —

गाली देना हिंसा है।
अपनी बड़ाई हाँकना हिंसा है।
किसी पर कलंक लगाना हिंसा है।
किसी का भद्दा मजाक करना हिंसा है।

— + —

किसी पर अन्याय होते देखकर खुश होना हिंसा है।
शक्ति होने पर भी अन्याय को न रोकना हिंसा है।
आलस्य और प्रमाद मे निष्क्रिय पडे रहना हिंसा है।
अवसर आने पर भी सत्कर्म से जी चुराना हिंसा है।

— — —

विना बांटे अकेले खाना हिंसा है।
इन्द्रिया का गुलाम रहना हिंसा है।
दवे हुए कलह को उखाडना हिंसा है।
किसी की गुप्त बात को प्रकट करना हिंसा है।

— — —

किसी को नीच-अछूत समझना हिंसा है।
शक्ति होते हुए भी सेवा न करना हिंसा है।
बडो की विनय-भक्ति न करना हिंसा है।
छोटो से स्नेह, सदभाव न रखना हिंसा है।

— — —

ठीक समय पर अपना फर्ज अदा न करना हिंसा है।
सच्ची बात को किसी बुरे सकल्प से छिपाना हिंसा है।

२०

> अहिंसा जैन संस्कृति की आत्मा है। जीवन की समष्टि और शान्ति का मूल अहिंसा की भावना के साथ जुड़ा हुआ है।
> हिंसा के सम्बन्ध में पिछले अध्याय में आपने पढ़ा अब पढ़िए अहिंसा का स्वरूप और उसकी साधना-पद्धति।

जैन-संस्कृति की अमर देन : अहिंसा

जैन-संस्कृति की संसार को जो सबसे बड़ी देन है वह है अहिंसा। अहिंसा का यह महान् विचार जो आज विश्व की शान्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन समझा जाने लगा है और जिसकी अमोघ शक्ति के सम्मुख संसार की समस्त संहारक शक्तियाँ कुण्ठित होती दिखाई देने लगी हैं जैन संस्कृति का प्राण है, जैन-धर्म का आधार है।

दुःख मनुष्य ने ही पैदा किया है

जैन-संस्कृति का महान् सन्देश है कि कोई भी मनुष्य समाज से सर्वथा पृथक् रहकर अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। समाज में घुल-मिल कर ही वह अपने जीवन का आनन्द उठा सकता है और आस-पास के संगी-साथियों को भी उठाने दे सकता है। जब यह निश्चित है कि व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता तब यह भी आवश्यक है कि वह अपने हृदय को उदार, विशाल तथा विराट् बनाये और जिन लोगों से मुझ को काम लेना है या जिनको देना है उनके हृदय में अपनी ओर से पूर्ण विश्वास पैदा करे। जब तक मनुष्य अपने

पाश्ववर्ती समाज में अपनेपन का भाव पैदा नहीं करेगा अर्थात् जब तक दूसरे लोग अपना न समझेंगे और वह भी दूसरो को अपना न समझेगा, तब तक समाज का कल्याण नही हो सकता। मनुष्य मनुष्य में एक-दूसरे के प्रति अविश्वास ही अशान्ति और विनाश का कारण बना हुआ है।

ससार में जो चारो ओर दुख का हाहाकार है, वह प्रकृति की ओर से मिलने वाला तो बहुत ही साधारण है। यदि अन्तर्निरोक्षण किया जाए, तो प्रकृति दुख की अपेक्षा हमारे सुख में ही अधिक सहायक है। वास्तव मे जो कुछ भी ऊपर का दुख है, वह मनुष्य पर मनुष्य के द्वारा ही लादा हुआ है यदि हर एक व्यक्ति अपनी ओर से दूसरा पर किये जाने वाले दुख के कारणो को हटा दें, तो यह समार आज ही नरक से स्वग में वदल सकना है।

सुख का साधन स्व' की सीम

जैन सस्कृति के महान् सस्कारक अन्तिम तीयकर भगवान् महा वीर ने तो राष्ट्रो मे परस्पर होने वाले युद्धो का हल भी अहिंसा के द्वारा ही बनलाया है। उनका उपदेश है कि मनुष्य 'स्व' की सीम मे ही मन्तुष्ट रहे, पर' की मीमा मे प्रविष्ट होने का कभी भ प्रयत्न न करे। 'पर' की सीमा में प्रविष्ट होने का अय है, दूसरो के सुख-माधनो को देखकर लालायित होना और उन्हे छीनने का दुस्साहस करना।

हाँ, तो जब तक नदी अपनी धारा में प्रवाहित होती रहती है तब तक उसमे ममार को अनेक प्रकार के लाभ मिलते रहते हैं हानि कुछ भी नही। ज्यो ही वह अपनी मीमा से हटकर आस पा क प्रदेश पर अधिकार जमा लेती है ब्राढ़ का रूप धारण कर लेत है तो ममार मे हाहाकार मच जाना है, प्रलय का दृश्य खड़ा

ता है। यही दशा मनुष्यों की है। जब तक सहभाव से सब मनुष्य अपने-अपने 'स्व' में ही प्रवाहित रहते हैं, तब तक युद्ध अशान्ति नहीं होती है। अशान्ति और विग्रह का वातावरण वहीं पैदा होता है जहाँ कि मनुष्य 'स्व' से बाहर फैलना शुरू करता है दूसरे के अधिकारों को कुचलता है और दूसरों के जीवनोपयोगी साधनों पर कब्जा करने लगता है।

प्राचीन जैन साहित्य उठाकर आप देख सकते हैं कि भगवान महावीर ने इस दिशा में बड़े सुन्दर प्रयत्न किये हैं। वे अपने प्रत्येक गृहस्थ शिष्य को पाँचवें अपरिग्रहव्रत की मर्यादा में सर्वथा रूप से ही सीमित रहने की शिक्षा देते हैं। व्यापार तथा उद्योग आदि क्षेत्रों में उन्होंने अपने अनुयायियों को अपने न्याय-प्राप्त अधिकारों से कभी भी आगे नहीं बढ़ने दिया। प्राप्त अधिकारों से आगे बढ़ने का अर्थ है अपने दूसरे साथियों के साथ संघर्ष में उतरना।

जैन-संस्कृति का अमर आदर्श है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी उचित आवश्यकता की पूर्ति के लिए अपनी मर्यादा में रहते हुए उचित साधनों का ही प्रयोग करे। आवश्यकता से अधिक किसी भी सुख सामग्री का संग्रह कर रखना जैन-संस्कृति में चोरी है। व्यक्ति समाज अथवा राष्ट्र आपस में क्यों लड़ते हैं। दूसरों के जीवन की तथा जीवन के सुख-साधनों की उपेक्षा करके मनुष्य कभी भी सुख-शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। अहिंसा के बीज अपरिग्रह-वृत्ति में ही ढूँढे जा सकते हैं। एक अपेक्षा से कहें तो अहिंसा और अपरिग्रह वृत्ति दोनों पर्यायवाची शब्द हैं।

युद्ध और अहिंसा

आत्म-रक्षा के लिए उचित प्रतिकार के साधन जुटाना जैन-धर्म

के विरुद्ध नहीं है। परन्तु आवश्यकता से अधिक सगृहीत एव सगठित शक्ति अवश्य ही सहार-लीला का अभिनय करेगी तथा अहिंसा को सहारोन्मुखी बनायेगी। अतएव आप आश्चर्य न करें कि पिछले कुछ वर्षों मे जो शस्त्र-सन्यास का आन्दोलन चल रहा है, प्रत्येक राष्ट्र को सीमित युद्ध सामग्री रखने को कहा जा रहा है, वह जैन-तीर्थंकर न हजारो वर्ष पहले चलाया था। आज जो काम कानून तथा सविधान के द्वारा लिया जाता है, उन दिनो वह उपदेश के द्वारा लिया जाता था। भगवान् महावीर ने बडे-बडे राजाओ को जैन धर्म मे दीक्षित किया था और उन्हें नियम कराया गया था कि वे राष्ट्ररक्षा के काम मे आने वाले आवश्यक शस्त्रो से अधिक शास्त्र-सग्रह न करें। भावना का आधिक्य मनुष्य को उद्दण्ड और बेलगाम बना देता है। प्रभुता की लालसा मे आकर वह कभी न कभी किसी पर चढ दौडेगा और मानव-ससार मे युद्ध की आग भडका देगा। इस दृष्टि से जैन-तीर्थंकर हिंसा के मूल कारणो को दूर करने का प्रयत्न करते रहे है।

जैन-तीर्थंकरो ने कभी भी युद्धो का समर्थन नही किया। जहाँ अनेक धर्माचार्य साम्राज्यवादी राजाओ के हाथो की कठपुतली बन कर युद्ध का उन्मुक्त समर्थन करते आए हैं, युद्ध मे मरने वालो को स्वर्ग का लालच दिखाते आये हैं राजा को परमेश्वर का अंश बता-कर उसके लिए सब कुछ अर्पण कर देने का प्रचार करते आए हैं, वहाँ जैन-तीर्थंकर इस सम्बन्ध मे बहुत ही स्पष्ट और दृढ रहे हैं। प्रश्न व्याकरण' और 'भगवती सूत्र' युद्ध के विरोध मे बहुत कुछ कहते है। यदि थोडा सा कष्ट उठाकर देखने का प्रयत्न करेंगे, तो वहाँ बहुत कुछ युद्ध-विरोधी विचार-सामग्री प्राप्त कर सकेंगे। मगधाधिपति अजातशत्रु कूणिक भगवान् महावीर का कितना उत्कृष्ट भक्त

था ? 'अनुत्तरोपपातिक सूत्र' में उसकी भक्ति का चित्र चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है। प्रतिदिन भगवान् के कुशल-समाचार जान कर फिर अन्न-जल ग्रहण करना कितना उग्र नियम है! परन्तु वैशाली पर कूणिक द्वारा होने वाले आक्रमण का भगवान् ने जरा भी समर्थन नहीं किया। प्रत्युत कणिक के प्रश्न पर उसे अगले जन्म में नरक का अधिकारी बताकर उसके क्रूर-कर्मों को स्पष्ट ही धिक्कारा है। अजातशत्रु इस पर रुष्ट भी हो जाता है किन्तु भगवान् महावीर इस बात की कुछ भी परवाह नहीं करते। भला अहिंसा के अवतार उसके रोमांचकारी नरसंहार का समर्थन कैसे कर सकते थे।

अहिंसा निष्क्रिय नहीं है

जैन-तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट अहिंसा निष्क्रिय अहिंसा नहीं है। वह विध्यात्मक है। जीवन के भावात्मक रूप—प्रेम, परोपकार एवं विश्वबन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत है। जैन-धर्म की अहिंसा का क्षेत्र बहुत ही व्यापक एवं विस्तृत है। उसका आदर्श 'स्वयं आनन्द से जीओ और दूसरों को जीने दो' यहीं तक सीमित नहीं है। उसका आदर्श है—दूसरों को जीने में सहयोगी बनो, अधिक अवसर आने पर दूसरे के जीवन की रक्षा के लिए अपने जीवन की आहुति भी दे डालो। वे उस जीवन को कोई महत्त्व नहीं देते जो जन-सेवा के मार्ग से सर्वथा दूर रहकर एक मात्र भक्तिवाद के कर्मशून्य क्रियाकाण्डों में ही उलझा रहता है।

भगवान् महावीर ने एक बार अपने प्रमुख शिष्य गणधर गौतम को यहाँ तक कहा था कि मेरी सेवा करने की अपेक्षा दीनदुखितों की सेवा करना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। मैं उन्हें अपना भक्त नहीं मानता जो मेरी भक्ति करते हैं माला फेरते हैं। किन्तु मैं उन्हें भक्त

मानता हूँ, जो मेरी आज्ञा का पालन करते हैं। मेरी आज्ञा है—
"प्राणीमात्र की आत्मा को सुख, सन्तोष और आनन्द पहुँचाओ।"

भगवान् महावीर का यह महान् ज्योतिर्मय सन्देश आज भी हमारी आँखो के सामने है। इसका सूक्ष्म वीज 'उत्तराध्ययन-सूत्र' की सर्वार्थ-सिद्धि-वृत्ति में आज भी हम देख सकते हैं।

वर्तमान परिस्थिति और अहिंसा

अहिंसा के महान् सन्देशवाहक भगवान् महावीर थे। आज से अढाई हजार वर्ष पहले का समय, भारतीय-सस्कृति के इतिहास में, एक प्रगाढ अन्धकारपूर्ण युग माना जाता है। देवी-देवताओ के आगे पशु बलि के नाम पर रक्त की नदियाँ बहाई जाती थीं, माँसाहार और सुरापान का दौर चलता था। अस्पृश्यता के नाम पर करोडों की सख्या मे मनुष्य अत्याचार की चक्की मे पिस रहे थे। स्त्रियों को भी मनुष्योचित अधिकारो से वचित कर दिया गया था। एक क्या, अनेक रूपो मे हिंसा की प्रचण्ड ज्वालाएँ धधक रही थीं, समूची मानव जाति उससे सत्रस्त हो रही थी। उस समय भगवान् महावीर ने ससार को अहिंसा का अमृतमय सन्देश दिया। हिंसा का विषाक्त प्रभाव धीरे-धीरे शान्त हुआ और मनुष्य के हृदय मे मनुष्य क्या, पशुओ के प्रति भी दया, प्रेम और करुणा की अमृतगंगा वह उठी। ससार मे स्नेह सद्भाव और मानवोचित अधिकारो का विस्तार हुआ। ससार की मातृजाति नारि को फिर से योग्य सम्मान मिला। शूद्रो को भी मानवीय ढग से जीने का अधिकार प्राप्त हुआ और निरीह पशु भी मनुष्य के क्रूर-हाथो से अभय-दान पाकर भयमुक्त हुए। अहिंसा की प्रतिष्ठा से संसार मे सद्भाव और प्रेम की गगा बहने लगी।

दुर्भाग्य से आज वह प्रेम और सद्भाव की गंगा फिर सूखने लगी है। 'अमन' और 'मैत्री' के उपवन में आज भय, छल-प्रपंच और धोखाबाजी के झाड़-झंखाड़ फिर से खड़े हो रहे हैं। संसार विगत दो महायुद्धों की विभीषिका को अभी भूला नहीं है कि तीसरे महायुद्ध के बादल उसके क्षितिज पर मंडराने लगे हैं। प्रत्येक देश शक्ति एवं सेना के विस्तार की होड़ में दौड़ रहा है। भयानक शस्त्रास्त्रों का विस्तार एवं निर्माण करता जा रहा है। संसार युद्ध और महानाश के द्वार पर खड़ा है।

व्यक्ति, समाज और राष्ट्र आज अविश्वास, भय और आशंकाओं से घिरे हुए हैं। उनका मन, बुद्धि और जीवन अशान्त और भयाक्रान्त-सा है। ऐसे समय में शान्ति और विश्वास का वातावरण निर्माण करने वाली कोई शक्ति है तो वह अहिंसा ही है। अहिंसा ही मानव-मानव को परस्पर प्रेम, सद्भाव एवं सहयोग के सूत्र में बांध सकती है। प्रसिद्ध जैनाचार्य समन्तभद्र के शब्दों में—'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्" अर्थात् अहिंसा ही प्राणियों के लिए परब्रह्म का परम संजीवनी शक्ति है।

जैन-धर्म के क्रांतिकारी सिद्धान्त जब रूढ़िवादी मनोवृत्ति को पसन्द नहीं आये तो उसने 'नास्तिक' कहकर भोली जनता में इसके प्रति घृणा फैलाने का प्रयत्न किया।
इस निबन्ध मे पढ़िए उसी घृणा फैलाने वाली मनोवृत्ति के तथ्यहीन तर्कों का शास्त्रीय और बौद्धिक उत्तर।

२१

जैन-धर्म की आस्तिकता

मनुष्य जब साम्प्रदायिकता के रग मे रग कर अपने मत का समर्थन और दूसरे मतो का खण्डन करने लगता है, तब वह कभी-कभी बहुत भयकर रूप धारण कर लेता है। किसी विषय मे मतभेद होना उतना बुरा नही है जितना कि मतभेद में घृणा का जहर भर देना। भारतवर्ष मे यह साम्प्रदायिक मतभेद इतना उग्र, कटु एव विषाक्त हो गया है कि आज हमारी अखण्ड राष्ट्रीयता भी इसके कारण छिन्न-भिन्न हो रही है।

हिन्दू मुसलमानो को म्लेच्छ कहते हैं, और मुसलमान, हिन्दुओ को काफिर कहते है। इसी प्रकार कुछ महानुभाव जैन-धर्म को नास्तिक कहते है। मतलब यह कि जिसके मन मे जो आता है, वही आँख बन्द कर अपने विरोधी सम्प्रदाय को कह डालता है। इस बात का जरा भी विचार नहीं किया जाता है कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ,

वह कहाँ तक सत्य है और इसका क्या परिणाम निकलेगा। किसी पर मिथ्या दोषारोपण करना तथा किसी के प्रति घृणा फैलाना अनुचित ही नहीं नैतिकताहीन अपराध भी है।

क्या जैन धर्म नास्तिक है?

आज हम इसी पर विचार करेंगे कि जैन-धर्म को जो लोग नास्तिक धर्म कहते हैं वे कहाँ तक ठीक हैं।

जैन-धर्म पूर्णतः आस्तिक धर्म है। उसे नास्तिक धर्म कहना सर्वथा असंगत है।

प्रश्न है कि भारत के कुछ लोग जैन-धर्म को नास्तिक क्यों कहने लगे। इसका भी एक इतिहास है। अज्ञानता के कारण भारत में जब यज्ञ-योग आदि का प्रचार हुआ और धर्म के नाम पर दीन-हीन मूक पशुओं की हिंसा प्रारम्भ हुई तब भगवान महावीर ने इस अन्ध-विश्वास और हिंसा का जोरदार विरोध किया। यज्ञ-योग आदि के समर्थन में आधारभूत मुख्य ग्रन्थ वेद थे। अतः हिंसा का समर्थन करने के कारण वेदों को भी अमान्य किया गया। इस पर कुछ मतान्ध लोगों में बड़ा क्षोभ फैला। वे मन-ही मन झुंझला उठे। जैन-धर्म के अकाट्य तर्कों का तो कोई उत्तर दिया नहीं गया। किन्तु यह कह कर और बताया जाने लगा कि जो वेदों को नहीं मानते हैं जो वेदों की निन्दा करते हैं वे नास्तिक हैं "नास्तिको वेद निन्दकः।" तब से लेकर आज तक जैन-धर्म पर यही आक्षेप लगाया जा रहा है। तर्क का उत्तर तर्क से न देकर गाली-गलौच करना तो स्पष्ट दुराग्रह और साम्प्रदायिक अभिनिवेश है। कोई भी तटस्थ बुद्धिमान विचारक कह सकता है कि यह सत्य के निर्णय करने की कसौटी नहीं है।

वैदिक धर्मावलम्बी जैन-धर्म को वेद-निन्दक होने के कारण यदि

नास्तिक कह सकते हैं, तो फिर जैन भी वैदिक-धर्म को जैन-निन्दक होने के कारण नास्तिक कह मकते हैं—'नास्तिको जैन-निन्दकः।' परन्तु यह कोई अच्छा माग नही है। यह कौन मा तर्क है कि वैदिक धम के ग्रन्था को न मानने वाना नास्तिक कहलाए और जैन-धर्म के ग्रन्थो को न मानने वाला नास्तिक न कहलाए ? सच तो यह कि कोई भी धर्म अपने से विरुद्ध किसी अन्य धम के ग्रन्थो को न मानने मात्र से नास्तिक नही कहला सकता। यदि ऐसा है, तो फिर सभी धर्म नास्तिक हो जायेंगे, क्योकि यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि सभी धर्म क्रिया-काण्ड आदि के रूप मे कहीं-न-कही एक दूसरे के परस्पर विरोधी है। दुख है कि आज के प्रगतिशील युग मे भी इन थोथी दलीलो मे काम लिया जा रहा है और व्यर्थ ही सत्य की हत्या कर एक-दूसरे को नास्तिक कहा जा रहा है।

वेदों का विरोध क्यों ?

जैन धम को वेदो से कोई द्वेष नही है। वह किसी द्वेष-बुद्धि के वश वेदो का विरोध नही करता है। जैन-धर्म जैसा समभाव का पक्षपाती धर्म भला क्यो किसी की निन्दा कर ? वह तो विरोधी से विरोधी के सत्य को भी मस्तक झुका-कर स्वीकार करने के लिए तैयार हैं। आप कहेंगे, फिर वेदो का विरोध क्यो किया जाता है ? वेदो का नही, वेदो के उन्हीं अशो का विरोध किया जाता है जिनमें अजमेध, अश्वमेध आदि हिंसामय यज्ञो का विधान है। जैन धर्म हिंसा का स्पष्ट विरोधी है। फिर धम के नाम पर किये जाने वाले निरीह पशुओ की निर्मम हत्या तो वह किसी भी आधार पर सहन नहीं कर सकता।

क्या जैन परमात्मा को नहीं मानते ?

जैन-धम को नास्तिक कहने के लिए आजकल एक और कारण बताया जाता है। वह कारण बिल्कुल ही बेसिर-पैर का है। लोग

कहते हैं कि "जैन-धर्म परमात्मा को नहीं मानता इसलिए नास्तिक है।"

हम पूछना चाहते हैं कि आपको यह कैसे पता चला कि जैन धर्म परमात्मा को नहीं मानता। परमात्मा के सम्बन्ध में जैन-धर्म की अपनी एक निश्चित परिभाषा है। (जो आत्मा राग-द्वेष से सर्वथा रहित हो जन्म-मरण से सर्वथा मुक्त हो केवल ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त कर चुका हो जिसके न शरीर हो न इन्द्रियाँ हों, न कर्म हो न कर्मफल हो वह अजर अमर सिद्ध बुद्ध मुक्त आत्मा परमात्मा है।) जैन-धर्म इस प्रकार के वीतराग परमात्मा को मानता है। वह प्रत्येक आत्मा में इसी परम प्रकाश को छिपा हुआ देखता है और कहता है कि हर कोई साधक वीतराग भाव की उपासना के द्वारा परमात्मा का पद पा सकता है। अब बताइए जैन धर्म परमात्मा को कैसे नहीं मानता।

हमारे वैदिक धर्मावलम्बी मित्र यह कहते हैं कि परमात्मा का जैसा स्वरूप हम मानते हैं वैसा जैन धर्म नहीं मानता इसलिए नास्तिक है। यह तर्क नहीं बवण्डर है। जिन्हें वे आस्तिक कहते हैं वे भी तो परमात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में कहाँ एकमत हैं? मुसलमान खुदा का स्वरूप कुछ और ही बताते हैं ईसाई कुछ और ही। वैदिक-धर्म में भी सनातन-धर्म का ईश्वर और है आर्यसमाज का ईश्वर और है। सनातन-धर्म का ईश्वर अवतार धारण कर सकता है परन्तु आर्य समाज का ईश्वर अवतार धारण नहीं कर सकता। अब कहिए कौन नास्तिक है तो जैन-धर्म भी अपनी परिभाषा के अनुसार परमात्मा को मानता है अतः वह भी आस्तिक है।

कुछ विद्वान यह भी कहते हैं कि जैन लोग परमात्मा को जगत का कर्ता नहीं मानते इसलिए नास्तिक हैं। यह तर्क भी ऊपर के समान व्यर्थ है। जब परमात्मा वीतराग है राग-द्वेष से रहित है, तब वह जगत् का

क्यो निर्माण करेगा ? और फिर उस जगत् का, जो आधि-व्याधि के भयकर दु खो से सपन्न है। इस प्रकार के जगत् की रचना मे वीतराग-भाव कैसे सुरक्षित रह सकता है ? और बिना शरीर के निर्माण होगा भी कैसे ? अस्तु, परमात्मा मे जगत्-कर्तृत्व धर्म है ही नही।

किसी वस्तु का अस्तित्व होने पर ही तो उसे माना जाए ! मनुष्य के पख नहीं है। कल यदि कोई यह कहे कि मनुष्य के पख होना मानो, नहीं तो तुम नास्तिक हो। यह भी अच्छी बला है। इस प्रकार तो सत्य का गला ही घोंट दिया जाएगा।

नास्तिक कौन ?

वैदिक-सम्प्रदाय मे मीमांसा साख्य और वैशेषिक आदि दर्शन-कट्टर निरीश्वरवादी दर्शन है। जगत्कर्ता तो क्या, ईश्वर का अस्तित्व तक नहीं स्वीकार करते। फिर भी वे आस्तिक है। और जैन-धर्म अपनी परिभाषा के अनुसार परमात्मा को मानता हुआ भी नास्तिक है। यह केवल अपने मत के प्रति मिथ्या राग और दूसरे धर्म के प्रति मिथ्या द्वेष नही तो क्या है ? आज के बुद्धिवादी युग मे ऐसी बातो का कोई महत्व नही है।

शब्दो के वास्तविक अर्थ का निर्णय व्याकरण से होता है। शब्दो के सम्बन्ध मे व्याकरण ही विद्वानो को मान्य होता है, अपनी मन-कल्पना नही। आस्तिक और नास्तिक शब्द संस्कृत भाषा के हैं। अत आइए, किसी प्रसिद्ध सस्कृत व्याकरण के आधार पर इसका विचार करें। सर्व प्रथम महर्षि पाणिनि के व्याकरण को देखें। यह व्याकरण जैन-सम्प्रदाय का नही वैदिक-सम्प्रदाय का है।

महर्षि पाणिनि के द्वारा रचित व्याकरण के अष्टाध्यायी नामक ग्रन्थ के चौथे अध्याय के चौथे पद का साठवाँ सूत्र है—

अस्ति नास्ति दिष्ट मति ४।४।६०।

भट्टो जी दीक्षित ने अपनी 'सिद्धान्त कौमुदी' में इसका अर्थ किया है—

'अस्ति पर लोक इत्येवं मतिर्यस्य स आस्तिक
नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिकः।'

इसका हिन्दी अर्थ यह है कि—"जो परलोक को मानता है वह आस्तिक है। और जो परलोक को नहीं मानता है वह नास्तिक है।"

अब कोई भी विचारक देख सकता है कि व्याकरण क्या कहता है और हमारे ये कुछ पड़ोसी मित्र क्या कहते हैं। जैन-दर्शन आत्मा को मानता है परमात्मा को मानता है आत्मा की अनन्त शक्तियों में विश्वास रखता है। हर आत्मा को परमात्मा बनने का अधिकार देता है। वह परलोक को मानता है पुनर्जन्म को मानता है पाप-पुण्य को मानता है संसार और मोक्ष को मानता है। फिर भी उसे नास्तिक कहने का दुस्साहस कौन कर सकता है? जिस धर्म में कदम-कदम पर अहिंसा और करुणा की गंगा बह रही हो जिस धर्म में सत्य और सदाचार के लिए सर्वस्व का त्याग कर कठोर साधना का मार्ग अपनाया जा रहा हो जिस धर्म में परम वीतराग भगवान् महावीर जैसे महापुरुषों की विश्वकल्याणकारी वाणी का अमर स्वर गूंज रहा हो वह धर्म नास्तिक नहीं हो सकता। यदि इतने पर भी जैन-धर्म को नास्तिक कहा जाता है तब तो संसार का एक भी धर्म आस्तिक नहीं रह सकेगा।

२२

> जैन-दर्शन प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक सिद्धान्त के सब पहलुओं पर विचार करके अपना निर्णय देता है, इसलिए उसको साम्यवाद या अनेकान्तवाद भी कहा जाता है।
> प्रस्तुत निबन्ध में अनेकान्त दृष्टि से विभिन्न वादों का समन्वय करने की पद्धति का सुन्दर दिग्दर्शन कराया गया है।

विभिन्न दर्शनों का समन्वय

भारतवर्ष में दार्शनिक विचारधारा का जितना अधिक विकास हुआ है, उतना अन्यत्र नहीं हुआ। भारतवर्ष दर्शन की जन्म-भूमि है। यहाँ भिन्न-भिन्न दर्शनों के भिन्न-भिन्न विचार बिना प्रतिबन्ध और नियन्त्रण के फलते-फूलते रहे हैं। यदि भारत के सभी पुराने दर्शनों का परिचय दिया जाए तो एक विस्तृत ग्रन्थ तैयार हो सकता है। अतः यहाँ विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही भारत के बहुत पुराने पाँच दार्शनिक विचारों का परिचय दिया जाता है। भगवान महावीर के समय में भी इन दर्शनों का अस्तित्व था और आज भी बहुत से लोग इन दर्शनों के विचार रखते हैं।

लम्बी चर्चा में उतरने से पहले उन पाँचों दर्शनों के नाम बताए देते हैं। पाँचों के नाम इस प्रकार हैं—(१) कालवाद, (२) स्वभाववाद, (३) कर्मवाद, (४) पौरुषवाद और (५) नियतिवाद। इन पाँच दर्शनों का परस्पर में संघर्ष है और प्रत्येक दर्शन परस्पर एक-दूसरे का खण्डन कर केवल अपने ही द्वारा कार्य सिद्ध होने का दावा करता है।

१ कालवाद

कालवाद का दर्शन बहुत पुराना है। यह काल को ही सबसे बड़ा महत्त्व देता है। कालवाद का कहना है कि संसार में जो कुछ भी कार्य हो रहे हैं सब काल के प्रभाव से ही हो रहे हैं। काल के बिना स्वभाव कर्म पुरुषार्थ और नियति कुछ भी नहीं कर सकते। एक व्यक्ति पाप या पुण्य का कार्य करता है परन्तु उसी समय उसका फल नहीं मिलता। समय आने पर ही कार्य का अच्छा या बुरा फल प्राप्त होता है। एक बालक आज जन्म लेता है। आप उसे कितना ही चलाइए वह चल नहीं सकता। कितना ही बुलवाइए, बोल नहीं सकता। समय आने पर ही चलेगा और बोलेगा। जो बालक आज किलो भर का पत्थर नहीं उठा सकता वह काल-परिपाक के बाद युवा होने पर मन भर के पत्थर को उठा लेता है। आम का मूल आज बोया है। क्या आज ही उसके मधुर फलों का रसास्वादन कर सकते हैं? वर्षों के बाद कहीं आम्र फलों के दर्शन होंगे। ग्रीष्मकाल में ही सूर्य तपता है। शीतकाल में ही शीत पड़ता है। युवावस्था में ही पुरुष के दाढ़ी-मूंछ आती है। मनुष्य स्वयं कुछ नहीं कर सकता। समय आने पर ही सब कार्य होते हैं। यह काल की महिमा है।

२ स्वभाववाद

स्वभाववाद का दर्शन भी कुछ कम नहीं है यह भी अपने सम्बन्ध में बड़े पैने तर्क उपस्थित करता है। स्वभाववाद का कहना है कि संसार में जो कुछ कार्य हो रहे हैं सब वस्तुओं के अपने स्वभाव के प्रभाव से हो रहे हैं। स्वभाव के बिना काल कर्म नियति आदि कुछ भी नहीं कर सकते। आम की गुठली में आम का वृक्ष होने का स्वभाव है इसी कारण माली का पुरुषार्थ सफल होता है, और समय पर

वृक्ष तैयार हो जाता है। यदि काल ही सब कुछ कर सकता है, तो क्या वह निवोली से आम का वृक्ष उत्पन्न कर सकता है? कभी नहीं स्वभाव का बदलना बडा कठिन काय है। कठिन क्या, असम्भव का है। नीम क वृक्ष को गुड और घी से सींचते रहिए, क्या वह मधुर हो सकता है? दही बिलोने से ही मक्खन निकलता है, पानी से नहीं क्योकि दही मे मक्खन देने का स्वभाव है। अग्नि का स्वभाव गरम है, जल का स्वभाव शीतल है सूर्य का स्वभाव प्रकाश करना है और तारो का स्वभाव है रात मे चमकना। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव के अनुसार काय कर रही है। स्वभाव के समक्ष विचारे काल आदि क्या कर सकते हैं।

३ कर्मवाद

इस का बल है। तभी तो एक विद्वान ने कहा है— 'गहना कर्मणो गतिः।' अर्थात् कर्म की गति बड़ी गहन है।

४ पौरुषवाद

पुरुषार्थवाद का भी संसार में कम महत्त्व नहीं है। यह ठीक है कि जनता ने पुरुषार्थवाद के दर्शन को अभी तक अच्छी तरह नहीं समझा है और उसने कर्म, स्वभाव तथा काल आदि को ही अधिक महत्त्व दिया है। परन्तु पुरुषार्थवाद का कहना है कि बिना पुरुषार्थ के संसार का एक भी कार्य सफल नहीं हो सकता। संसार में जहाँ कहीं भी जो भी कार्य होता देखा जाता है उसके मूल में कर्त्ता का अपना पुरुषार्थ ही छिपा होता है। काल कहता है कि समय आने पर ही सब कार्य होता है। परन्तु उस समय में भी यदि पुरुषार्थ न हो तो क्या हो जायगा? आम की गुठली में आम पैदा होने का स्वभाव है परन्तु क्या बिना पुरुषार्थ के यों ही कोठे में रखी हुई गुठली से आम का पेड़ लग जायगा? कर्म का फल भी क्या बिना पुरुषार्थ के यों ही हाथ पर हाथ धरकर बैठ रहने से मिल जायेगा? संसार में मनुष्य ने जो भी उन्नति की है वह अपने प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा ही की है। आज का मनुष्य हवा में उड़ रहा है, जल में तैर रहा है, पहाड़ों को फाड़ रहा है, परमाणु और उद्जन बम जैसे महान् आविष्कारों को तैयार करने में सफल हो रहा है। यह सब मनुष्य का अपना पुरुषार्थ नहीं तो क्या है? एक मनुष्य भूखा है, कई दिन का भूखा है, कोई दयालु सज्जन मिठाई का थाल भरकर सामने रख देता है, पर भूख नहीं जाती है। मिठाई लेकर मुँह में डाल देता है फिर भी भूख नहीं जाती है और गले से नीचे नहीं उतारता है। अब कहिए, बिना पुरुषार्थ के क्या होगा? क्या यों ही भूख मिट जायगी? आखिर मुँह ने खाली

हुई मिठाई को चबाने का और चबाकर गले के नीचे उतारने का पुरुषार्थ तो करना ही होगा। तभी तो कहा है—

"पुरुष हो पुरुषार्थ करो, उठो।"

३ नियतिवाद

नियतिवाद का दर्शन जरा गम्भीर है। प्रकृति के अटल नियमो को नियति कहते हैं। नियतिवाद का कहना है कि—ससार मे जितने भी कार्य होते हैं, सब नियति के अधीन होते हैं। सूर्य पूर्व में ही उदय होता है, पश्चिम में क्यो नही? कमल जल मे ही उत्पन्न हो सकता है, शिला पर क्यो नही? पक्षी आकाश मे उड सकते हैं, गधे घोडे क्यो नही? हम श्वेत क्यो हैं? पशु के चार पैर होते हैं, मनुष्य के दो ही क्यो हैं? अग्नि की ज्वाला जलते ही ऊपर को क्यों जाती है? इन सब प्रश्नो का उत्तर केवल यही है कि प्रकृति का जो नियम है वह अन्यथा नहीं हो सकता। यदि वह अन्यथा होने लगे तो फिर ससार मे प्रलय ही हो जाय। सूर्य पश्चिम मे उगने लगे, अग्नि शीतल हो जाए गधे घोडे आकाश मे उडने लगे, तो फिर ससार मे कोई व्यवस्था ही न रहे। नियति के अटल सिद्धांत के समक्ष अन्य सब सिद्धान्त तुच्छ है। कोई भी व्यक्ति प्रकृति के अटल नियमो के प्रतिकूल नही जा सकता। अत नियति ही सबसे महान है। कुछ आचार्य नियति का अर्थ होनहार भी करते हैं। जो होनहार है, वह होकर रहती है, उसे कोई टाल नही सकता।

तुमने देखा उपर्युक्त पाँचो वाद किस प्रकार अपने-अपने विचारो की खीचतान करते हुए दूसरे विचारो का खण्डन करते हैं। इस खण्डन मण्डन के कारण साधारण जनता मे भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गई हैं। वह सत्य के मूल मर्म को समझने में असमर्थ हैं। भगवान महा-

वीर ने विचारों के इस संघर्ष को बड़ी अच्छी तरह सुलझाया है। संसार के सामने उन्होंने वह सत्य प्रकट किया जो किसी का खण्डन भी नहीं करता अपितु सबका समन्वय करके जीवन-निर्माण के लिए समन्वय आदर्श प्रस्तुत करता है।

समन्वयवाद

भगवान् महावीर का उपदेश है कि पाँचों ही वाद अपने-अपने स्थान पर ठीक हैं। संसार में जो भी कार्य होता है वह इन पाँचों के समन्वय से अर्थात् मेल से होता है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि एक ही शक्ति अपने बल पर कार्य सिद्ध कर दे। बुद्धिमान मनुष्य को आग्रह छोड़ कर सब का समन्वय करना चाहिए। बिना समन्वय किये कार्य में सफलता की आशा रखना दुराशामात्र है। हाँ आग्रह से कदाग्रह और कदाग्रह से विग्रह पैदा होता है। यह हो सकता है कि किसी कार्य में कोई एक प्रधान हो और दूसरे सब गौण हों। परन्तु यह नहीं हो सकता कि कोई अकेला स्वतन्त्र रूप से कार्य सिद्ध कर दे।

भगवान् महावीर का उपदेश पूर्णतया सत्य है। हम इसे समझने के लिए आम बोने वाले माली का उदाहरण ले सकते हैं। माली बाग में आम की गुठली बोता है वहाँ पाँचों कारणों के समन्वय से ही वृक्ष होगा। आम की गुठली में आम पैदा होने का स्वभाव है परन्तु बोने का बोकर रक्षा करने का पुरुषार्थ न हो तो क्या होगा? बोने का पुरुषार्थ भी कर लिया परन्तु बिना निश्चित काल का परिपाक हुये आम यों ही जल्दी थोड़ा ही तैयार हो जायेगा? काल की मर्यादा पूरी होने पर भी यदि शुभ कर्म अनुकूल नहीं है तो फिर भी आम नहीं लगने का। कभी-कभी किनारे आया हुआ जहाज भी डूब जाता है। अब रही नियति। यह

सब कुछ है ही। आम से आम होना प्रकृति का नियम है, इससे इन्कार हो सकता है ? और आम होना होता है, तो होता है, नहीं होता ह, तो नही होता है। हाँ या ना, जो होना है, उसे कोई नही सकता।

पढने वाले विद्यार्थी के लिए भी पाँचो आवश्यक हैं। पढने के चित्त की एकाग्रता रूप स्वभाव हो, समय का योग भी दिया जाए, पुरुष यानी प्रयत्न भी किया जाए, अशुभ कर्म का क्षय तथा शुभ कर्म का भी हो और प्रकृति के नियम नियति एव भवितव्यता का भी ध्यान जाए, तभी वह पढ-लिख कर विद्वान् हो सकता है। अनेकान्तवाद के द्वा किया जाने वाला यह समन्वय ही, वस्तुत जनता को सत्य का प्रकाश दिख सकता है।

विचारो के भवरजाल मे आज मनुष्य की बुद्धि फँस रही है। एकान्तव का आग्रह लिए वह किसी भी समस्या का समाधान नहीं पा रहा है। समस का समाधान पाने के लिए उसे जैन-दर्शन के इस अनेकान्तवाद अर्थात् समन्व वाद को समझना होगा।

२३

'अनेकान्तवाद' और 'स्याद्वाद' के नाम से आप परिचित होंगे ? किन्तु अनेकान्त वाद का अर्थ क्या है, जीवन के आचार और विचार पक्ष की समस्याओं को सुलझाकर हमारे मन मस्तिष्क को यह किस प्रकार संतुलित करता है— इस कला से आप परिचित नहीं हुए होंगे ?

प्रस्तुत निबन्ध में 'अनेकान्तवाद' जैसे गम्भीर विषय को बड़ी ही रोचक और स्पष्ट शैली में समझाया गया है।

अनेकान्तवाद

अनेकान्तवाद जैन-दर्शन की आधारशिला है। जैन-तत्त्व ज्ञान का महल इसी अनेकान्त सिद्धान्त की सुदृढ़ नींव पर खड़ा है। वास्तव में अनेकान्तवाद जैन-दर्शन का प्राण है। जैन धर्म में जब भी जो भी बात कही गई है वह अनेकान्तवाद की कसौटी पर अच्छी तरह जाँच-परख करके ही कही गई है। दार्शनिक साहित्य में जैन दर्शन का दूसरा नाम अनेकान्तवादी दर्शन भी है।

अनेकान्तवाद का अर्थ है—प्रत्येक वस्तु का भिन्न-भिन्न दृष्टि बिन्दुओं से विचार करना परखना देखना। अनेकान्तवाद का यदि एक ही शब्द में अर्थ समझना चाहें तो उसे 'अपेक्षावाद' कह सकते हैं। जैन दर्शन में सर्वथा एक ही दृष्टिकोण से पदार्थ के अवलोकन करने की पद्धति को अपूर्ण एवं अप्रामाणिक समझा जाता है। और एक ही वस्तु में विभिन्न धर्मों को विविध दृष्टिकोणों से निरीक्षण

करने की पद्धति को पूर्ण एव प्रामाणिक माना गया है। यह पद्धति ही अनेकान्तवाद है।

अनेकान्त और स्याद्वाद

अनेकान्त और स्याद्वाद एक ही सिद्धान्त के दो पहलू हैं जैसे एक सिक्के के दो बाजू। इसी कारण सर्वसाधारण दोनो वादो को एक ही समझ लेते है। परन्तु ऊपर से एक होते हुए भी दोनो मे मूलत भेद है। अनेकान्तवाद वस्तुदर्शन की विचारपद्धति है तो स्याद्वाद उसकी भाषा पद्धति। अनेकान्त दृष्टि को भाषा मे उतारना स्याद्वाद है। इसका अर्थ हुआ कि वस्तुस्वरूप के चिन्तन करने की विशुद्ध और निर्दोष शैली अनेकान्तवाद है और उस चिन्तन तथा विचार को अर्थात् वस्तुगत अनन्तवाद धर्मों के मूल मे रही हुई विभिन्न अपेक्षाओ को दूसरो के लिये निरूपण करना उनका मर्मोद्घाटन करना ही वस्तुत स्याद्वाद है। स्याद्वाद को 'कथचित्वाद' भी कहते हैं।

वस्तु अनन्त धर्मात्मक है

जैन धर्म की मान्यता है कि प्रत्येक पदार्थ चाहे वह छोटा सा रज कण हो चाहे महान हिमालय अनन्त धर्मो का समूह है। धर्म का अर्थ गुण है विशेषता है। उदाहरण के लिए आप फल को ले लीजिए। फल मे रूप भी है रस भी है गन्ध भी है, स्पर्श भी है, आकार भी है भूख बुझाने की शक्ति है अनेक रोगो को दूर करने की शक्ति और अनेक रोगो को पैदा करने की शक्ति भी है। कहाँ तक गिनाएँ? हमारी बुद्धि बहुत सीमित है अत हम वस्तु के सब अनन्त धर्मों को बिना अनन्त ज्ञान हुए नहीं जान सकते। परन्तु स्पष्टत प्रतीयमान बहुत से धर्मों को तो अपने बुद्धि बल के अनुसार जान ही सकते हैं।

हाँ तो पदार्थ को केवल एक पहलू से केवल एक धर्म से बांधने का या कहने का आग्रह मत कीजिए। प्रत्येक पदार्थ को पृथक्-पृथक् पहलुओं से देखिए और कहिए। इसी का नाम अनेकान्तवाद है। अनेकान्तवाद हमारे दृष्टिकोण को विस्तृत करता है हमारी विचारधारा को पूर्णता की ओर ले जाता है।

'भी' और 'ही'

फल के सम्बन्ध में जब हम कहते हैं कि—फल में रूप भी है रस भी है गंध भी है स्पर्श भी है तब तो हम अनेकान्तवाद और स्याद्वाद का उपयोग करते हैं और फल का यथार्थ निरूपण करते हैं। इसके विपरीत जब हम एकांत आग्रह में आकर यह कहते हैं कि फल में केवल रूप ही है रस ही है गंध ही है स्पर्श ही है तब हम मिथ्या एकांतवाद का प्रयोग करते हैं। 'भी' में दूसरे धर्मों की स्वीकृति का स्वर छिपा हुआ है जबकि 'ही' में दूसरे धर्मों का स्पष्टतः निषेध है। रूप भी है—इसका यह अर्थ है कि फलों में रूप भी है और दूसरे रस आदि धर्म भी हैं। और रूप ही है इसका यह अर्थ है कि फल में मात्रा रूप ही है रस आदि कुछ नहीं। यह 'भी' और 'ही' का अन्तर ही स्याद्वाद और मिथ्यावाद है। 'भी' स्याद्वाद है तो 'ही' मिथ्यावाद।

एक आदमी बाजार में खड़ा है। एक ओर से एक लड़का आया। उसने कहा—पिताजी। दूसरी ओर से एक बूढ़ा आया उसने कहा—'पुत्र'। तीसरी ओर से एक अधेड़ व्यक्ति आया। उसने कहा—'भाई'। चौथी ओर से एक लड़का आया। उसने कहा—'मास्टरजी'। मतलब यह है कि—उसी आदमी को कोई चाचा कहता है, कोई ताऊ कहता है कोई मामा कहता है कोई भानजा कहता है। सब झगड़ते हैं—यह तो पिता ही है पुत्र ही है भाई ही है और चाचा ताऊ, मामा या भानजा ही है। अब बताइए, कैसे निर्णय हो? सबका

यह मधप नैम मिट ? वास्तव म यह आदमी है क्या ? यहाँ पर स्याद्वाद का पायाधीश बनाना पड़ेगा । स्याद्वाद पहले लड़के न कहना है - ना यह पिता भी है। तुम्हारे लिए तो पिता है, चूँकि तुम इसके पु हो। और अन्य लोगो का तो पिता नही है। बूढे ने कहना ह नहीं यह पुत्र भी ह। तुम्हारी अपनी अपेक्षा म हूँ यह पुत्र है, सब लोग की अपेक्षा से ना नहीं। क्या यह सारी दुनिया का पुत्र है ? मतलब यह है कि यह आदमी अपने पुत्र की अपेक्षा न पिता है, अपने पिता की अपेक्षा म पुत्र है अपने भाई की अपेक्षा म भाई है अपने विद्यार्थी की अपेक्षा म मास्टर है । इसी प्रकार अपनी-अपनी अपेक्षा म चचा ताऊ मामा भानजा पति मित्र सब ह। एक ही आदमी म अनेक धम हैं परन्तु भिन्न-भिन्न अपेक्षा से। यह नहीं कि उसी पुत्र की अपेक्षा पिता उसी की अपेक्षा पुत्र, उसी की अपेक्षा भाइ मास्टर चाचा ताऊ मामा और भानजा हो। ऐसा नहीं हो सकता यह पदार्थ विज्ञान के नियमों के विरुद्ध है।

स्याद्वाद का समर्थन के लिए इन उदाहरणों पर और ध्यान दीजिए—एक आदमी काफी ऊँचा है इसलिए कहता है कि मैं बडा हूँ। हम पूछते हैं— क्या आप पहाड से भी बडे हैं ?' वह झट कहता है—'नहीं साहब, पहाड से तो मैं छोटा ह । मैं तो इन साथ के आदमियों की अपेक्षा से कह रहा था कि मैं बडा हू ।' अब एक दूसरा आदमी है। वह अपने साथियों म नाटा है इसलिए कहता है कि— मैं छोटा हूँ।' हम पूछते हैं— क्या आप चींटी म भी छोटे हैं ?' वह झट उत्तर देता है— नहीं साहब चींटी स तो मैं बडा हूँ।' मैं तो इन कद्दावर साथियों की अपेक्षा से कह रहा था कि मैं छोटा हूँ।'

इस उदाहरण मे अपेक्षावाद का मूल समझ मे आ गया होगा कि

हर एक चीज छोटी भी है और बड़ी भी। अपने से बड़ी चीजों की अपेक्षा छोटी है और अपने से छोटी चीजों की अपेक्षा बड़ी है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु के दो पहलू होते हैं और उन्हें समझने के लिए अपेक्षावाद का यह सिद्धान्त उन पर लागू करना होगा। दर्शन की भाषा में इसे अनेकान्त वाद कहते हैं।

सम्पूर्ण हाथी का ज्ञान

अनेकान्तवाद को समझने के लिए प्राचीन आचार्यों ने हाथी का उदाहरण दिया है। एक गाँव में जन्म के छह अन्धे मित्र रहते थे। सौभाग्य से एक दिन वहाँ एक हाथी आ गया। गाँव वालों ने कभी हाथी देखा न था धूम मच गई। अन्धों ने हाथी का आना सुना तो उनने दौड़े। अन्धे तो थे ही देखते क्या? हर एक ने हाथ से टटोलना शुरू किया। किसी ने सूँड पकड़ी तो किसी ने पूँछ किसी ने कान पकड़ा तो किसी ने दाँत किसी ने पैर पकड़ा तो किसी ने पेट। एक-एक अंग को पकड़ कर हर एक ने समझ लिया कि मैंने हाथी देख लिया है। अपने स्थान पर आये तो हाथी के सम्बन्ध में चर्चा छिड़ी।

प्रथम पूँछ पकड़ने वाले ने कहा— 'अरे हाथी तो मैंने देख लिया बिल्कुल मोटे रस्से जैसा था।

सूँड पकड़ने वाले दूसरे अन्धे ने कहा— झूठ बिल्कुल झूठ! हाथी कहीं रस्से-जैसा होता है। अरे, हाथी तो मूसल जैसा था।

तीसरा कान पकड़ने वाला अन्धा बोला— 'आँखें काम नहीं देतीं तो क्या हुआ हाथ तो धोखा नहीं दे सकते। मैंने हाथी को टटोल कर देखा था वह ठीक छाज (सूप) जैसा था।

चौथे दाँत पकड़ने वाले सूरदास बोले— 'अरे तुम सब झूठी गप्पें मारते हो? हाथी तो कुछ मानो कुदाल जैसा था।

पाचवें पैर पकड़ने वाले महाशय ने कहा—"अरे कुछ भगवान का भी ख्याल रखो। नाहक झूठ क्यो बोलते हो ? हाथी तो खम्भे जैसा था। मैंने खूब टटोल-टटोल कर देखा है।"

छठे पेट पकड़ने वाले सूरदास गरज उठे—"अरे क्यो बकवाश करते हो ? पहले पाप किए तो अन्धे हुए, अब व्यर्थ को झूठ बोलकर क्यो उन पापो की जड़ो में पानी सीचते हो ? हाथी तो भाई मैं भी देखकर आया हूँ। वह अनाज भरने की कोठी जैसा है।'

अब क्या था आपस मे वाग्युद्ध ठन गया। सब एक दूसरे को झुठलाने लगे और गाली गलौज करने लगे।

सौभाग्य से वहाँ एक आँखो वाले सज्जन आ गए। अन्धो की तू-तू मैं-मैं सुनकर उन्हे हँसी आ गई। पर, दूसरे ही क्षण उनका चेहरा गम्भीर हो गया। उन्होने सोचा—"भूल हो जाना अपराध नही है किन्तु किसी की भूल पर हँसना अपराध है।" उनका हृदय करुणार्द्र हो गया। उन्होने कहा—"बन्धुओ, क्यो झगड़ते हो ? जरा मेरी भी बात सुनो। तुम सब सच्चे हो, कोई झूठा नहीं है। तुम मे से किसी ने भी हाथी को पूरा नहीं देखा है। एक-एक अवयव को लेकर हाथी की पूर्णता का बखान कर रहे हो। कोई किसी को झूठा मत कहो एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करो। हाथी रस्से जैसा भी है पूछ की दृष्टि से। हाथी मूसल-जैसा भी है, सूँड की अपेक्षा से। हाथी छाज-जैसा भी है कान की ओर से। हाथी कुदाल जैसा भी है, दाँतो के लिहाज से। हाथी खम्भे-जैसा भी है, पैरो की अपेक्षा से। हाथी अनाज की कोठी-जैसा भी है, पेट की दृष्टि से।" इस प्रकार समझा-बुझा कर उस सज्जन ने एकात की आग मे अनेकात का पानी डाला। अन्धो को अपनी भूल समझ मे

जानी। और सब शान्त होकर कहने लगे—हाँ भाई! तुमने ठीक समझाया। सब अंगों के मिलने से ही हाथी होता है एक-एक अलग-अलग अंग से नहीं!

वस्तुतः अन्धों ने हाथी के एक अंश को देखा और उसी पर जिद करने लग गए। आँख वाले ने सम्पूर्ण हाथी के रूप को समझाया तो उनका विवाद समाप्त हो गया।

संसार में जितने भी एकान्तवादी सम्प्रदाय हैं वे सब पदार्थ के एक-एक अंश अर्थात् एक एक धर्म को ही पूरा पदार्थ समझते हैं। इसीलिए दूसरे धर्म वालों से लड़ते-झगड़ते हैं। परन्तु वास्तव में वह पदार्थ नहीं पदार्थ का एक अंश मात्र है। स्याद्वाद आँखों वाला दर्शन है। अतः वह इन एकान्तवादी अन्धे दर्शनों को समझाता है कि तुम्हारी मान्यता किसी एक दृष्टि से ही ठीक हो सकती है सब दृष्टियों से नहीं। अपने एक अंश को सर्वथा सब अपेक्षा से सत्य और दूसरे अंशों को असत्य कहना बिल्कुल अनुचित है। स्याद्वाद इस प्रकार एकान्तवादी दर्शनों की भूल बताकर पदार्थ के सत्य स्वरूप को प्रस्तुत करता है और प्रत्येक सम्प्रदाय को किसी एक अपेक्षा से ठीक बतला कर साम्प्रदायिक कलह को शान्त करने की क्षमता रखता है। केवल साम्प्रदायिक कलह को नहीं यदि स्याद्वाद का जीवन के हर क्षेत्र में प्रयोग किया जाए तो क्या परिवार क्या समाज और क्या राष्ट्र सभी में प्रेम एवं सद्भावना के सुन्दर वातावरण का निर्माण हो सकता है। कलह और संघर्ष का बीज एक-दूसरे के दृष्टिकोण को न समझने में ही है। स्याद्वाद दूसरे के दृष्टिकोण को समझने में सहायक होता है।

यहाँ तक स्याद्वाद को समझाने के लिए स्थूल लौकिक उदाहरण ही काम में लाए गए हैं। अब दार्शनिक उदाहरणों का मर्म भी समझ

लेना चाहिए। यह विषय जरा गम्भीर है, अत यहाँ सूक्ष्म निरीक्षण पद्धति से काम लेना ठीक रहेगा

नित्य और अनित्य

अच्छा तो पहले नित्य और अनित्य के प्रश्न को ही ले लें। जैन-धर्म कहता है कि प्रत्येक पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी है। साधारण लोग इस बात पर घपले में पड जाते हैं कि जो नित्य है, वह अनित्य कैसे हो सकता है? और जो अनित्य है, वह नित्य कैसे हो सकता है? परन्तु जैन-धर्म अनेकांतवाद के द्वारा सहज में ही इस समस्या को सुलझा देता है।

कल्पना कीजिए—एक घडा है। हम देखते हैं कि जिस मिट्टी से घडा बना है उसी से सिकोरा सुराई आदि और भी कई प्रकार के बर्तन बनते हैं। हाँ तो यदि उस घडे को तोडकर हम उसी की मिट्टी से बनाया गया कोई दूसरा बर्तन किसी को दिखलाएँ, तो वह कदापि उसको घडा नहीं कहेगा। उसी घडे को मिट्टी के होते हुए भी उसको घडा न कहने का कारण क्या है? कारण और कुछ नहीं, यही है कि अब उसका [illegible] पर जना नहीं है।

[illegible] स्पष्ट हो जाता है कि घडा स्वय कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है [illegible] मिट्टी का एक आकार-विशेष है। परन्तु वह आकार-विशेष मिट्टी से सर्वथा भिन्न नहीं है उसी का एक रूप है। क्योंकि भिन्न-भिन्न आकारों से परिवर्तित हुई मिट्टी ही जब घडा सकोरा सुराही आदि अपने भिन्न नामों से सम्बोधित होती है, तो इस स्थिति में वे भिन्न आकार मिट्टी से सर्वथा भिन्न कैसे हो सकते हैं? इससे स्पष्ट हो जाता है कि [illegible] आकार और मिट्टी दोनो ही घडे के अपने निजी स्वरूप हैं

अब देखना है कि इन दोनों स्वरूपों में विनाशी स्वरूप कौन-सा है और ध्रुव कौन-सा है। यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है कि घड़े का वर्तमान में दिखने वाला आकार क्षणिक विनाशी है। क्योंकि यह बनता और बिगड़ता है। यह पहले नहीं था बाद में भी नहीं रहेगा। जैन-दर्शन में इसे पर्याय कहते हैं। और घड़े का जो दूसरा मूल स्वरूप मिट्टी है वह अविनाशी है क्योंकि उसका कभी नाश नहीं होता। घड़े के बनने से पहले भी मिट्टी मौजूद थी घड़े के बनने पर भी वह मौजूद है और घड़े के नष्ट हो जाने पर भी वह मौजूद रहेगी। मिट्टी अपने आप में पुद्गल स्वरूपेण स्थायी तत्त्व है उसका कुछ भी बनना बिगड़ना नहीं है। जैन दर्शन में इसे द्रव्य कहते हैं।

इसके विवेचन से अब यह स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि घड़े का एक स्वरूप विनाशी है और दूसरा अविनाशी। एक जन्म लेता है और नष्ट हो जाता है दूसरा सदा-सर्वदा बना रहता है नित्य रहता है। अतएव अब हम अनेकान्तवाद की दृष्टि से यों कह सकते हैं कि घड़ा अपने मूल मिट्टी द्रव्य से—अविनाशी रूप से नित्य है।[1] जैन-दर्शन की भाषा में कहें तो यों कह सकते हैं कि घड़ा अपनी पर्याय की दृष्टि से अनित्य है और द्रव्य की दृष्टि से नित्य है। इस प्रकार एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी जैसे परिलक्षित होने वाले नित्यता और अनित्यता रूप-धर्मों को सिद्ध करने वाला सिद्धान्त ही अनेकान्तवाद है।

त्रिपदी

अच्छा इसी विषय पर जरा और विचार कीजिए। जगत् के सब

---

१ मिट्टी का उदाहरण मात्र समझाने के लिए स्थूल रूप से दिया है। वस्तुतः मिट्टी भी नित्य नहीं है। नित्य तो वह पुद्गल परमाणु-पुंज है जिससे मिट्टी का निर्माण हुआ है।

पदार्थ उत्पत्ति, स्थिति और विनाश—इन तीन धर्मों से युक्त हैं। जैन-दर्शन में इनके लिए क्रमश उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य शब्दो का प्रयोग किया गया है। इसे त्रिपदी भी कहा जाता है। आप कहेंगे—एक वस्तु मे परस्पर विरोधी धर्मों की स्थिति कैसे हो सकती है। इसे समझने के लिये एक उदाहरण लीजिए। एक सुनार के पास सोने का कगन है। वह उसे तोडकर गलाकर हार बना लेता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि कगन का नाश होकर हार की उत्पत्ति हो गई। परन्तु इससे आप यह नही कह सकते कि कगन बिलकुल ही नया बन गया। क्योंकि कगन और हार मे जो सोने के रूप मे पुदगल परमाणु स्वरूप मूल तत्व है, वह तो ज्यो का त्यो अपनी उसी पहले की स्थिति में विद्यमान है। विनाश और उत्पत्ति केवल आकार की हो हुई है। पुराने आकार का नाश हुआ है और नये आकार की उत्पत्ति हुई है। इस उदाहरण के द्वारा सोने म कगन के आकार का नाश, हार के आकार की उत्पत्ति, और सोने की उभयत्र ध्रुवस्थिति—ये तीनो धर्म भलीभाँति सिद्ध हो जाते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु मे उत्पत्ति, स्थिति और विनाश ये तीनों गुण स्वभावत रहते हैं। कोई भी वस्तु जब नष्ट हो जाती है, तो इसम यह न समझना चाहिए कि उसके मूल तत्व ही नष्ट हो गए। उत्पत्ति और विनाश तो उसके स्थूल रूप के होते हैं। स्थूल वस्तु के नष्ट हो जाने पर भी उसके सूक्ष्म परमाणु तो सदा काल स्थित ही रहते हैं। वे सूक्ष्म परमाणु दूसरी वस्तु के साथ मिल कर नवीन रूपो का निर्माण करते हैं। वैशाख और ज्येष्ठ के महीने मे सूर्य की किरणो से जब तालाब आदि का पानी सूख जाता है तब यह समझना भूल है कि पानी का सर्वथा अभाव हो गया है उसका अस्तित्व पूर्णतया नष्ट हो गया है। पानी चाहे अब भाप या गैस आदि किसी भी रूप

में क्यों न हो पर वह विद्यमान अवश्य है। यह हो सकता है कि उसका वह पूर्व रूप हमें दिखाई न दे परन्तु यह तो कदापि सम्भव नहीं कि उसकी सत्ता ही नष्ट हो जाए, सर्वथा अभाव ही हो जाए। अतएव यह सिद्धान्त अटल है कि न तो कोई वस्तु मूल रूप से अपना अस्तित्व खोकर सर्वथा नष्ट ही होती है और न मूल-रूप अभाव से भावस्वरूप होकर नवीन रूप में सर्वथा उत्पन्न ही होती है। आधुनिक पदार्थ-विज्ञान भी इसी सिद्धान्त का समर्थन करता है। वह कहता है कि— प्रत्येक वस्तु मूल प्रकृति के रूप में ध्रुव है—स्थिर है और उससे उत्पन्न होने वाले अपरापर दृश्यमान पदार्थ उसके भिन्न भिन्न रूपान्तर मात्र हैं।

नित्यानित्यवाद की मूल दृष्टि

हाँ तो उपर्युक्त उत्पत्ति स्थिति और विनाश—इन तीन रूपों में से जो मूल वस्तु सदा स्थिर रहती है उसे जैन-दर्शन में द्रव्य कहते हैं और जो उसकी अवस्था उत्पन्न एवं विनष्ट होती रहती है उसे पर्याय कहते हैं। कंगन से हार बनने वाले उदाहरण में—सोना द्रव्य है और कंगन तथा हार उसके पर्याय हैं। द्रव्य की अपेक्षा से हर एक वस्तु नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ को न एकान्त-नित्य और न एकान्त-अनित्य अपितु नित्यानित्य उभय रूप से मानना ही अनेकान्तवाद है।

अस्ति-नास्तिवाद

अनेकान्त सिद्धान्त सत् और असत् के सम्बन्ध में भी समन्वयवादी दृष्टि रखता है। कितने ही सम्प्रदाय कहते हैं—'वस्तु सर्वथा सत् है।' इसके विपरीत दूसरे सम्प्रदाय कहते हैं—'वस्तु सर्वथा असत् है।' दोनों ओर से संघर्ष होता है वाग्युद्ध होता है अनेकान्तवाद ही इस संघर्ष का सही समाधान कर सकता है।

अनेकान्तवाद कहता है कि प्रत्येक वस्तु सत् भी है और असत् भी। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ 'है' भी और 'नहीं' भी। अपने निजस्वरूप से है और दूसरे पररूप से नहीं है। अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता पितारूप से सत् है और पर-पुत्र की अपेक्षा से पिता पितारूप से असत् है। यदि वह परपुत्र की अपेक्षा से भी पिता ही है तो सारे संसार का पिता हो जाएगा और असम्भव है।

आपके सामने एक कुम्हार है। उसे कोई सुनार कहता है। अब यदि वह यह कहे कि मैं तो कुम्हार हूँ सुनार नहीं हूँ क्या अनुचित कहता है? कुम्हार की दृष्टि से यद्यपि वह सत् है तथापि सुनार की दृष्टि से वह असत् है।

कल्पना कीजिए—सौ घड़े रखे हैं। घड़े की दृष्टि से तो वे सब घड़े के दृष्टिकोण से सत् हैं। परन्तु घट से भिन्न जितने भी पट आदि अघट हैं, उनकी दृष्टि से असत् हैं। प्रत्येक घड़ा भी अपने गुण, धर्म और स्वरूप से ही सत् है किन्तु अन्य घड़ों के गुण धर्म और स्वरूप से सत् नहीं है। घड़ों में भी आपस में भिन्नता है न? एक मनुष्य अकस्मात् किसी दूसरे के घड़े को उठा लेता है और फिर पहचानने पर यह कहकर कि यह मेरा नहीं है वापस रख देता है। इस दशा में घड़े में असत् नहीं तो क्या है? 'मेरा नहीं है'—इसमें मेरा के आगे जो 'नहीं' शब्द है वही असत् का अर्थात नास्तित्व का सूचक है। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व अपनी सीमा में है, सीमा से बाहर नहीं। अपना स्वरूप अपनी सीमा है और दूसरों का स्वरूप अपनी सीमा से बाहर है, अतः वह पर सीमा है। यदि विश्व की हर एक वस्तु हर एक वस्तु के रूप में सत् हो जाय तो फिर संसार में कोई व्यवस्था ही न रहे। दूध, दूध रूप में भी सत् हो दही के रूप में भी सत् हो छाछ के रूप में भी

सत् हो पानी के रूप में भी सत् हो तब तो दूध के बदले में वही छाछ या पानी हर कोई ले-दे सकता है। याद रखिए—दूध दूध के रूप में सत् है दही आदि के रूप में असत् है। क्योंकि स्व-रूप सत् है पर-रूप असत्।

स्याद्वाद का अमर सिद्धान्त दार्शनिक जगत् में बहुत ऊँचा सिद्धांत माना गया है। महात्मा गांधी ने स्याद्वाद सिद्धान्त की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। पाश्चात्य विद्वान् डॉ॰ थामस आदि का भी कहना है कि—स्याद्वाद का सिद्धान्त बड़ा ही गम्भीर है। यह वस्तु की भिन्न-भिन्न स्थितियों पर प्रकाश डालता है।

वस्तुतः स्याद्वाद सत्य-ज्ञान की कुञ्जी है। आज संसार में जो सब ओर धार्मिक सामाजिक राष्ट्रीय आदि वैर-विरोध का बोलबाला है वह स्याद्वाद के द्वारा दूर हो सकता है। दार्शनिक क्षेत्र में स्याद्वाद वह सम्राट है जिसके सामने आते ही कलह ईर्ष्या अनुदारता साम्प्रदायिकता और संकीर्णता आदि दोष भयभीत होकर भाग जाते हैं। जब कभी विश्व में शान्ति का सर्वतोमुख सर्वोदय राज्य स्थापित होगा तो वह स्याद्वाद के द्वारा ही होगा—यह बात अटल है अचल है।

संसार का रचयिता कौन है ? यह प्रश्न बड़ा ही उलझा हुआ है ।
विश्व के विभिन्न धर्म और दर्शनों ने ईश्वर को संसार का रचयिता मानकर इस विकट पहेली को सुलझाना चाहा किन्तु प्रश्न पहले से भी अधिक उलझ गया ।
ईश्वर को जगत का कर्ता मानने में क्या-क्या उलझनें आती हैं और उसे कर्ता न मानने मे किस प्रकार इस प्रश्न का समाधान होते है—
जैन-दृष्टि से इस विषय की रोचक तथा दार्शनिक चर्चा प्रस्तुत निबन्ध मे की गई है ।

२४

ईश्वर जगत्कर्त्ता नहीं

संसार के धर्मों मे वैदिक इस्लाम और ईसाई आदि धर्म ईश्वर को जगत् का कर्ता-धर्ता मानते हैं । यद्यपि जगत् के बनाने की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे परस्पर काफी मत-भेद हैं परन्तु जहाँ ईश्वर को जगत्कर्ता मानने का प्रश्न है, वहाँ सब एकमत हो जाते हैं ।

जैन-धर्म का मार्ग इन सबसे भिन्न है । यह जगत् को अनादि व अनन्त मानता है । उनका विश्वास है कि जगत् न कभी बनकर तैयार हुआ और न कभी नष्ट ही होगा । पदार्थों के रूप बदल जाते हैं, परन्तु मूलत किसी भी पदार्थ का नाश नहीं होता । इसी सिद्धान्त के आधार पर जगत का रूप बदल जाता है समुद्र की जगह स्थल और स्थल की जगह समुद्र हो जाता है उजड़े हुए भूखण्ड जनाकीर्ण हो

जाते हैं और जनाकीर्ण प्रदेश बिलकुल उजाड़ सुनसान बन जाते हैं। खण्ड-प्रलय होता रहा है परन्तु महा-प्रलय होकर एक दिन सब कुछ लुप्त हो जाएगा और फिर नये सिरे से जगत् का निर्माण होगा—यह कदापि सम्भव नहीं है।

ईश्वर को किसने बनाया ?

तथापि हमारे बहुत-से पड़ोसी धर्म जगत् का उत्पन्न होना मानते हैं। उन्हें यह विश्वास ही नहीं आता कि बिना बनाए भी कोई चीज अस्तित्व रख सकती है। अतएव वे कहते हैं कि 'जगत्' का बनाने वाला ईश्वर है।

इस पर जैन-दर्शन पूछना चाहता है कि क्या कोई भी पदार्थ बिना बनाए अपना अस्तित्व नहीं रख सकता। यदि नहीं रख सकता तो फिर ईश्वर का अस्तित्व किस प्रकार है? उसे किसने बनाया? यदि ईश्वर को किसी ने नहीं बनाया और फिर भी वह अपने आप ही अनादि-अनन्त काल से अपना अस्तित्व टिकाए रख सकता है तो इसी प्रकार जगत् भी अपने अस्तित्व में किसी उत्पादक की अपेक्षा नहीं रखता। वह भी ईश्वर के समान बिना किसी निर्माण के स्वतः सिद्ध है।

यह तो सभी मानते हैं कि ईश्वर निराकार है। उसके कोई हाथ पैर एवं शरीर नहीं है। जैन-दर्शन का तर्क है कि बिना शरीर और बिना हाथ-पैर के वह जगत् कैसे बना सकता है? हम देखते हैं कि कुम्हार, सुनार आदि कर्ता हाथ आदि से ही वस्तु का निर्माण करते हैं। कोई भी कर्ता शरीर के बिना क्या कर सकता है?

'खुदा' जब क्यों नहीं बोलता ?

मुसलमान कहते हैं कि खुदा अपने हुक्म से दुनिया को पैदा करता है। खुदा ने कुन कहा और दुनिया बनकर तैयार हो गई। हम पूछते

है—'क्या खुदा के शरीर है ? क्या खुदा के जुबान है ? क्या खुदा के मुँह है ?' मुसलमान भाई कहते हैं कि 'खुदा के शरीर, मुँह, जुबान आदि कुछ नही है।' हम आश्चर्य मे हैं कि जब मुँह ही नही है, जुबान ही नही, तो फिर कुन कहा कैसे ? शब्द बोलने के लिए तो मुँह की आवश्यकता है। दूसरी ओर जगत् के रूप मे तब्दील होने वाले परमाणु तो जड हैं बिना कान के हैं। उन्होंने खुदा की आज्ञा को सुना भी कैसे ? और यदि वह बोल सकता है, तो अब क्यो नही बोलता है ? आज प्रार्थना करते-करते लोग पागल हुए जा रहे हैं और वह बोलता ही नहीं। यदि वह बोल पडे तो आज ही हजारो काफिर मोमिन हो जाएँ। कितना बडा धर्म और परोपकार का काम होगा ? क्या यह सब खुदा को पसन्द नही ?

दु खमय ससार का निर्माता, दयालु ईश्वर ?

वैदिक धर्म की शाखा वाले सनातनी और आर्य समाजी बन्धु मानते हैं कि ईश्वर ने इच्छा मात्र से जगत् का निर्माण कर दिया। परमात्मा को ज्यो ही इच्छा पैदा हुई कि दुनियाँ तैयार हो, त्यो ही भूमि और आकाश सूर्य और चन्द्र, नदी और समुद्र आदि बनकर तैयार हो गए।

जैन-दर्शन इस पर भी तर्क करता है कि ईश्वर के मन तो है नहीं, फिर वह इच्छा कैसे कर सकता है ? इच्छा किसी प्रयोजन के लिए होती है। जगत् के बनाने मे, ईश्वर का क्या प्रयोजन है ? ईश्वर दयालु है, परमपिता है। वह सिंह, सर्प आदि दुष्ट हिंसक पशुओ से भरे हुए, रोग, शोक, द्रोह एव दुर्व्यसन आदि से घिरे हुए और चोरी, व्यभिचार, लूट, हत्या आदि अपराधो से व्याप्त दु ख-पूर्ण ससार के निर्माण की इच्छा कैसे कर सकता है ? आप कहेंगे—'यह ईश्वर की लीला है।' भला यह लीला कैसी है ? बिचारे ससारी जीव रोग-शोक आदि से भयकर

जाय पाएँ, अकाल और बाढ़ आदि के समय नरक जैसा हाहाकार मच जाए। और वह ईश्वर, वह सब अपनी लीला करे। कोई भी भला आदमी इस लीला को देखने के लिए तैयार नहीं हो सकता। यदि परमात्मा दयालु होकर संसार का निर्माण करता तो वह दीन-दुखी और दुराचारी जीवों को क्यों पैदा करता? आज जिसे दुखी देखकर हमारा हृदय भी भर जाता है, उसे बनाते समय और इस प्रकार परिस्थिति में रखते समय यदि ईश्वर को दया नहीं आई तो उसे हम दयालु कह सकते हैं?

ईश्वर पापी को रोकता क्यों नहीं?

पौराणिक सनातन-धर्मी कहते हैं कि जब संसार में पापी और दुराचारी बढ़ जाते हैं तो उनका नाश करने के लिए ईश्वर अवतार धारण करता है। आर्य समाजी बन्धु भी यह मानते हैं कि ईश्वर अवतार तो धारण नहीं करता, परन्तु दुष्टों को दण्ड अवश्य देता है। जैन-दर्शन पूछता है कि ईश्वर तो सर्वज्ञ है। वह जानता ही है कि ये पापी और दुराचारी बनकर मेरी सृष्टि को तंग करेंगे, फिर उन्हें पैदा ही क्यों करता है? जहर का वृक्ष पहले लगाना और फिर उसे काटना यह कहाँ की बुद्धिमत्ता है? कोई भी बुद्धिमान मनुष्य यह नहीं करेगा कि पहले अपने ही कीचड़ में वस्त्र खराब करे और फिर उसे धोए।

दूसरी बात इस सम्बन्ध में यह है कि—क्या वे पापी ईश्वर से भी बढ़कर बलवान हैं? क्या ईश्वर उनको दुराचार करने से रोक नहीं सकता? जो ईश्वर इच्छा-मात्र से इतना बड़ा विराट् जगत् बना सकता है, क्या वह अपनी प्रजा को दुराचारी से सदाचारी नहीं बना सकता? यदि वह कुछ भी दया रखता होता तो अवश्य ही अपनी

शक्ति का उपयोग दुष्टों को सज्जन बनाने में करता। यह कहाँ का न्याय है कि पाप करते समय तो अपराधियो को रोकता नही, परन्तु बाद मे उन्हें दण्ड देना, नष्ट करना। उस सर्वशक्तिमान ने जीवो मे पहले दुराचार करने की बुद्धि ही क्यो उत्पन्न होने दी? आप कहेगे— ईश्वर ने जीवो को कम करने मे स्वतन्त्रता दे रखी है, अत वह नहीं रोक सकता। विचार कीजिए, यह भी कोई स्वतन्त्रता है? सदाचार के लिए स्वतन्त्रता होती है या दुराचार के लिए? क्या कोई न्यायी प्रजावत्सल शासक ऐसा करेगा कि पहले तो प्रजा को स्वतन्त्र रूप से जानबूझ कर चोरी और दूराचार करने दे, और फिर उन्हें दण्ड दे कि तुमने चोरी क्यो की? दुराचार क्यो किया? आज के प्रगतिशील युग मे तो इस प्रकार का बुद्ध शासक एक दिन भी गद्दी पर नहीं टिक सकना।

वीतराग किसी को सुखी और दुखी नहीं करता

ईश्वर राग और द्वेष से सर्वथा रहित है। जब वह राग-द्वेष से सवथा रहित है, तो ससार बनाने के झझट मे क्यो पडता है? राग-द्वेष से रहित वीतराग पुरुष सृष्टि को बनाने और बिगाडने के खेल में पडना कभी पसन्द नहीं कर सकना। ससार की रचना मे ता सदा-सवदा राग-द्वेष का सामना करना पडेगा। किसी को सुखी बनाना होगा, किसी को दु खी। किसी को धनी बनाना होगा किसी को निधन। किसी कश्मीर जैसी स्वग भूमि रहने को देगा किसी को जलता हुआ मरुस्थल। बिना राग-द्वेष के यह भेद-वृद्धि कैसे होगी?

यदि आप यह कहें कि वह अपनी इच्छा से नही करता। हम पूछते हैं—किसकी इच्छा से करता है? यदि किसी दूसरे की इच्छा से जबदस्ती ईश्वर को इस अमगल काय मे सलग्न होना पडता है तो

फिर वह परतन्त्र ईश्वर ही कैसा रहा ? तब तो वह ईश्वर से जबर्दस्ती काम कराने वाली शक्ति ही ईश्वर कहलाएगी ? दूसरी बात यह है कि ईश्वर कृतकृत्य है। कृतकृत्य उसे कहते हैं जिसे कोई कार्य करना शेष न रहा हो। यदि संसार के कार्य ईश्वर को ही करने हैं तो वह कृतकृत्य नहीं रह सकता। वह भी फिर संसारी जीवों के समान ही जंजाल में फँसा रहने वाला साधारण प्राणी हो जाएगा।

आप यहाँ फिर वही पुराना तर्क उपस्थित करेंगे कि—'ईश्वर स्वयं कार्य नहीं करता। वह तो जीवों का जैसा कर्म होता है, उसी के अनुसार फल देने आदि का कार्य करता है। यह तर्क मन्द बुद्धि लोगों के लिए हो सकता है परन्तु जरा भी बुद्धि से काम लिया जाए; तो इस तर्क का खोखलापन अपने आप प्रकट हो जाता है। एक सुन्दर उदाहरण देकर हम इस तर्क का उत्तर देंगे।

अपराधी कौन ?

एक धनी व्यापारी है। उसने कुछ ऐसा कर्म किया कि जिसका फल उसका धन अपहरण होने से मिल सकता है। ईश्वर स्वयं तो उसका धन चुराने के लिए आता नहीं। अब किससे चुरवाए। हाँ तो किसी चोर के द्वारा उसका धन चुरवाता है। ऐसी स्थिति में जबकि एक चोर ने एक धनी का धन चुराया तो क्या हुआ ? कोई भी विचार-एक उत्तर दे सकता है कि इस धनापहरण क्रिया से धनी को तो पूर्व-कृत कर्म का फल मिला और चोर ने नवीन कर्म किया। इस नवीन कर्म का फल ईश्वर ने न्यायाधीश के द्वारा चोर को जेल पहुँचा कर दिलवाया। अब बताइये कि चोर ने जो धनी का धन चुराने की चेष्टा की वह अपनी स्वतन्त्रता से की अथवा ईश्वर की प्रेरणा से की। यदि स्वतन्त्रता से की है और इसमें ईश्वर की कुछ भी प्रेरणा नहीं है तो फिर धनी को जो कर्म का फल मिला वह अपने आप

मिला, ईश्वर का दिया हुआ नही मिला। यदि ईश्वर की प्रेरणा से चोर से धन चुराया तो वह स्वय कम करने में स्वतन्त्र नहीं रहा, निर्दोष हुआ। अब जो ईश्वर न्यायाधीश के द्वारा चोर को चोर का दण्ड दिलवाता है, वह किम न्याय के आधार पर दिलवाता है? पहले तो स्वय चोरी करवाना और फिर स्वय ही उसको दण्ड दिलवाना, यह किस दुनिया का न्याय है?

यह एक उदाहरण हैं। इस उदाहरण के द्वारा ही विवाद का निणय हो जाता है। यदि ईश्वर को ससार की खट-पट मे पडने वाला और कमफल का देने वाला मानेंगे, तो ससार में जितने भी अत्याचार दुराचार होते हैं, उन मबका करने वाला ईश्वर ही ठहरेगा। इमके लिए प्रवल पमाण यह है कि जितने भी कर्म-फल मिल रहे हैं, सबके पीछे ईश्वर का हाथ है। और फिर यह अच्छा तमाशा होता है कि अपराधी ईश्वर और दण्ड भोगे जीव?

'ईश्वर-भक्ति' का उद्देश्य

जैन-धम परमात्मा को जगत् का कर्ता और कर्म-फल का दाता नही मानता है। इस पर हमारे वहुत-से प्रेमी यह कहा करते हैं कि—'यदि परमात्मा हमे दुख से मुक्त कर सुख नही दे सकता, तो उसकी भक्ति करने की क्या आवश्यकता है? जो हमारे काम ही नही आता, उसकी भक्ति से आखिर कुछ लाभ?'' जैन-धर्म उत्तर देता है कि क्या भक्ति का अथ काम कराना ही है। परमात्मा को कर्मकर बनाए बिना भक्ति हो ही नही सकती? यह भक्ति क्या, यह तो एक प्रकार की तिजारत है व्यापार है। इस प्रकार कर्त्तावादियो की भक्ति, भक्ति नही ईश्वर को फुसलाना है। और अपन सुख के लिए उसकी चापलूसी करना अथवा घूंस देने का प्रयत्न करना है। जैन-धर्म में तो बिना किसी इच्छा के प्रभु की भक्ति करना ही सच्ची भक्ति है।

निष्काम भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है। अब रहा यह प्रश्न कि आखिर इससे कुछ लाभ भी है या नहीं। इसका उत्तर यह है कि परमात्मा आध्यात्मिक उत्कर्ष का सर्वोत्तम आदर्श है और उस आदर्श का उचित स्मरण हमें परमात्मा की भक्ति के द्वारा होता है। मनोविज्ञान-शास्त्र का नियम है कि जो मनुष्य जैसी वस्तु का निरन्तर विचार करता है चिन्तन करता है कालान्तर में वह वैसा ही बन जाता है वैसी ही मनोवृत्ति पा लेता है। जिसकी जैसी भावना होती है वह वैसा ही रूप धारण कर लेता है। इस नियम के अनुसार परमात्मा का चिन्तन मनन भजन आदि करने से परमात्म-पद की प्राप्ति होती है। और यह प्राप्ति क्या कुछ कम लाभ है?

एक बात और। पहले भी कहा जा चुका है कि जैन-धर्म परमात्मा में विश्वास अवश्य रखता है उसकी भक्ति और स्तुति भी करता है पर उसे सुख-दुःख का कर्ता मानकर नहीं किन्तु उसके महान् गुणों को आदर्श मानकर। वह ईश्वर को एक परम विशुद्ध आत्मा के रूप में मानता है और प्रत्येक साधक के समक्ष आध्यात्मिक पवित्रता का यही आदर्श प्रस्तुत करता है।

● ●

रवाद' की कल्पना मनुष्य के मन की
। और परावलम्बिता का स्पष्ट चित्रण

न दर्शन मनुष्य की श्रेष्ठता का दर्शन है, उनमे मनुष्य के अवतरण—पतन का आदर्श नहीं बल्कि उत्तरण—उत्थान का आदर्श है। वह नर' मे 'नारायण' और 'जन' में जिनत्व' का दर्शन करता है और करता है प्रत्येक जन' को जिनत्व' की ओर बढ़ाने के लिए उत्प्रेरित। प्रस्तुत निबन्ध में इसी प्रश्न पर विस्तार के साथ चर्चा की गई है।

२५

अवतारवाद या उत्तारवाद

ब्राह्मण-सस्कृति अवतारवाद में विश्वास करती है। ईश्वर एक सर्वोपरि शक्ति है। वह भूमण्डल पर अवतार धारण कर मनुष्य आदि का रूप लेती है और अधम का नाश कर धर्म की स्थापना करती है। यह है अवतारवाद की मूल भावना। ससार मे राम कृष्ण आदि जितने भी महापुरुष हुए हैं, ब्राह्मण-सस्कृति ने सबको ईश्वर का अवतार माना है और कहा है कि भूमि का भार उतारने के लिए समय-समय पर ईश्वर को विभिन्न रूपो मे जन्म ग्रहण करना पड़ता है।

इसके विपरीत श्रमण-संस्कृति फिर चाहे वह जैन-संस्कृति हो अथवा बौद्ध-संस्कृति अवतारवाद की धारणा में किसी भी तरह का विश्वास नहीं रखती। श्रमण-संस्कृति का आदिकाल से यही आदर्श रहा है कि इस संसार को बनाने-बिगाड़ने वाली ईश्वर या अन्य किसी नाम की कोई भी सर्वोपरि शक्ति नहीं है। अतः जबकि लोकप्रकल्पित सर्वसत्ताधारी ईश्वर ही कोई नहीं है। तब उसके अवतार लेने की बात को तो अवकाश ही कहाँ रहता है? यदि कोई ईश्वर हो भी तो वह सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान क्यों नीचे उतार कर आए? क्यों मत्स्य वराह एवं मनुष्य आदि का रूप ले? क्या वह जहाँ है वहाँ से ही अपनी अनन्त शक्ति के प्रभाव से भूमि का भार हरण नहीं कर सकता?

अवतारवाद बनाम दास भावना

अवतारवाद के मूल में एक प्रकार से मानव-मन की हीन-भावना ही काम कर रही है। वह यह कि मनुष्य आखिर मनुष्य ही है। वह कैसे इतने महान् कार्य कर सकता है? जग संसार में जितने भी विश्वोपकारी महान् पुरुष हुए हैं वे सब वस्तुतः मनुष्य नहीं थे मूल में ईश्वर थे ईश्वर के अवतार थे। ईश्वर थे तभी तो इतने महान् आश्चर्यजनक कार्य कर गए। अन्यथा बेचारा आदमी यह सब कुछ कर सकता था? कदापि नहीं।

अवतारवाद का भावार्थ ही यह है—बैठे रहो हीनता का अनुभव करो। अपने को पंगु, बेबस लाचार समझो। जब भी कभी महान् कार्य करने का प्रसंग आए, देश या धर्म पर घिरे हुए संकट एवं अत्याचार के बादलों को विध्वस्त करने का अवसर आए तो बस ईश्वर के अवतार लेने का इन्तजार करो। इस प्रकार से दीन-हीन एवं पंगु मनोवृत्ति से ईश्वर के चरणों में भीख पे भीख अवतार लेने के

लिए पुकार करो। वही संकटहारी है अत- वही कुछ परिवर्तन ला सकता है।

अवतारवाद कहता है कि देखना, तुम कहीं कुछ कर न बैठना। तुम मनुष्य हो, पामर हो, तुम्हारे करने से कुछ नहीं होगा। ईश्वर का काम भला दो हाथ वाला हाड-मांस का पिंजर क्षुद्र मनुष्य कैसे कर सकता है। ईश्वर की बराबरी करना नास्तिकता है, परले सिरे की मूर्खता है। इस प्रकार अवतारवाद अपने मूल रूप में दास-भावना का झण्डाबरदार है।

अवतारवाद की मान्यता पर खडी की गई संस्कृति, मनुष्य की श्रेष्ठता एवं पवित्रता मे विश्वास नहीं रखती। उसकी मूल भाषा मे मनुष्य एक द्विपद जन्तु के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मनुष्य का अपना भविष्य उसके अपने हाथ में नही है, वह एक मात्र जगन्नियन्ता ईश्वर के हाथ मे है। वह जो चाहे कर सकता है। मनुष्य उसके हाथ की कठपुतली है। पुराणो की भाषा मे वह 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम' के रूप मे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है। विश्व का सर्वाधिकारी सम्राट है। "**भ्रामयन सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया**"[1] वह सब जगत को अपनी माया से घुमा रहा है, जैसे कुम्हार चाक पर रखे मृत्तिपण्ड को।

मनुष्य कितनी ही ऊँची साधना कर, कितना ही सत्य तथा अहिंसा के ऊँचे शिखरो पर विचरण करे, परन्तु वह ईश्वर कभी नहीं बन सकता। मनुष्य के विकास की कुछ सीमा है, और वह सीमा ईश्वर की इच्छा के नीचे है। मनुष्य को चाहिए कि वह उसकी कृपा का भिखारी बन कर रहे इसीलिये तो श्रमणेतर संस्कृति का ईश्वर कहता है—मनुष्य! तू मेरी शरण मे आ मेरा स्मरण कर। तू क्यो डरता।

---

१ गीता १८/६१।

है? मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा शोक मत कर। हाँ तुझे अपना स्वामी मान और अपने को मेरा दास। बस इतनी-सी शर्त पूरी करनी होगी और कुछ नहीं। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।'[1]

अवतारवाद या शरणवाद

कोई भी तटस्थ विचारक इस बात पर विचार कर सकता है कि यह मान्यता मानव-समाज के नैतिक बल को घटाती है, या नहीं। कोई भी समाज इस प्रकार की विचार-परम्परा का प्रचार कर अपने आचरण के स्तर को ऊँचा नहीं कर सकता। यही कारण है कि भारतवर्ष की जनता का नैतिक स्तर बराबर नीचे गिरता जा रहा है। लोग पाप से नहीं बचना चाहते पाप के फल से बचना चाहते हैं। और पाप के फल से बचने के लिए भी किसी ऊँची कठोर साधना की आवश्यकता नहीं है, केवल ईश्वर या ईश्वर के किसी अवतार की शरण में पहुँच जाना ही उनकी दृष्टि में सबसे बड़ी साधना है यह सस्ते से बेड़ा पार है। जहाँ मात्र अपने मनोरंजन के लिए तोते को रामनाम रटाते हुए वेश्याएँ तर जाती हों और मरते समय मोह-वश अपने पुत्र नारायण को पुकारने भर से सर्वविपन्ना नारायण के दूत दौड़ते हों एवं उस जीवन-भर के पापी अजामिल को स्वर्ग में ले पहुँचते हों वहाँ भला जीवन की नैतिकता और सदाचरण की महत्ता का क्या मूल्य रह जाता है। सस्ती भक्ति धर्माचरण के महत्व को गिरा देती है। और इस प्रकार भक्ति से पल्लवित हुआ अवतारवाद का सिद्धान्त जनता में 'शरणवाद' के रूप में परिणत हो जाता है। पाप करो और उसके फल से बचने के लिए प्रभु की शरण में चले जाओ।

---
१ वही १८/६६।

अवतारवाद के आदर्श केवल आदर्श मात्र रह जाते हैं, वे जनता के द्वारा अपनाने योग्य यथार्थता के रूप में कभी नहीं उतर पाते। अतएव जब लोग राम, कृष्ण आदि किसी अवतारी महापुरुष की जीवन-लीला सुनते हैं, तो किसी ऊँचे आदर्श की बात आने पर झट-पट कह उठते हैं, कि "वाह क्या कहना है ! अजी भगवान थे, भगवान ! भगवान् के अतिरिक्त और कौन दूसरा यह काम कर सकता है।" इस प्रकार हमारे प्राचीन महापुरुषों में अहिंसा, दया, दान, सत्य परोपकार आदि जितने भी श्रेष्ठ एवं महान् गुण हैं, उन सबसे अवतारवादी लोग मुँह मोड लेते हैं अपने को साफ बचा लेते हैं। अवतारवादियों के यहाँ जो कुछ भी है, सब प्रभु की लीला है। सब केवल सुनने-भर के लिए हैं, आचरण करने के लिए नहीं। भला सर्वशक्तिमान ईश्वर के कामों को मनुष्य कहीं अपने आचरण में उतार सकता है ?

अवतारों का चरित्र श्रव्य है या कर्तव्य ?

कुछ प्रसंग तो ऐसे भी आते हैं जो केवल दोषों को ढकने का ही प्रयत्न करते हैं। जब कोई विचारक, किसी भी अवतार के रूप में माने जाने वाले व्यक्ति का जीवन-चरित्र पढता है, और उसमें कोई नैतिक जीवन की भूल पाता है तो विचारक होने के नाते वह उसकी आलोचना करता है, अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा कहता है। किन्तु अवतारवादी लोग विचारक का वह अधिकार छीन लेते हैं। ऐसे प्रसंगों पर वे प्रायः कहा करते हैं— अरे तुम क्या जानो ? यह सब उस महाप्रभु की माया है। वह जो कुछ भी करता है, अच्छा ही करता है। जिसे हम आज बुराई समझते हैं, उसमें भी कोई-न-कोई भलाई ही रही होगी ! हमें श्रद्धा रखनी चाहिए, ईश्वर का अपवाद नहीं करना चाहिए !" इस प्रकार अवतारवादी लोग श्रद्धा की दुहाई

देकर मानव चिन्तन एवं पुरुषार्थ के परीक्षण का द्वार सहसा बन्द कर देते हैं। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में जब राजा परीक्षित ने श्री कृष्ण का गोपियों के साथ उन्मुक्त व्यवहार का वर्णन सुना तो वह चौंक उठा। भगवान् होकर इस प्रकार अमर्यादित आचरण! कुछ समझ में नहीं आया। उस समय शुकदेवजी ने कैसा अनोखा तर्क उपस्थित किया है! वे कहते हैं— राजन्! महापुरुषों के जीवन सुनने के लिए हैं आचरण करने के लिए नहीं। कोई भी विचारक इस समाधान-पद्धति से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। वे महापुरुष हमारे जीवन-निर्माण के लिए उपयोगी कैसे हो सकते हैं जिनके जीवन वृत्त केवल सुनने के लिए हों विधि-निषेध के रूप में अपनाने के लिए नहीं? क्या इनके जीवन चरित्रों से फलित होने वाले आदर्शों को अपनाने के लिए अवतारवादी साहित्यकार जनता को कुछ प्रेरणा देते हैं? इन सब प्रश्नों का उत्तर यदि ईमानदारी से दिया जाए, तो इस अवतारवाद की विचार-परम्परा में एकमात्र नकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

अवतरण नहीं उत्तरण

श्रमण-संस्कृति का आदर्श ईश्वर का अवतार न होकर मनुष्य का उत्तार है। यहाँ ईश्वर का मानव-रूप में अवतरण नहीं माना जाता प्रत्युत मानव का ईश्वर-रूप में उत्तरण माना जाता है। अवतरण का अर्थ है—नीचे की ओर आना और उत्तरण का अर्थ है—ऊपर की ओर जाना। हाँ तो श्रमण-संस्कृति में मनुष्य से बढ़कर और कोई दूसरा श्रेष्ठ प्राणी नहीं है। मनुष्य केवल हाड़-मांस का चलता-फिरता पिंजरा नहीं है प्रत्युत वह अनन्त-अनन्त शक्तियों का पुंज है। वह देवताओं का भी देवता है, स्वयंसिद्ध ईश्वर है। परन्तु

जब तक वह ससार की मोह-माया के कारण कर्म-मल से आच्छादित है, तब तक वह अन्धकार से घिरा हुआ सूय है, फलत प्रकाश दे, तो कैसे दे ? सूय को प्रकाश देने से पहले रात्रि के सघन अन्धकार को चीरकर बाहर आना ही होगा ।

हाँ, तो ज्यो ही मनुष्य अपने होश मे आता है, अपने वास्तविक आत्म-स्वरूप को पहचानता है, पर-परिणति को त्याग कर स्व-परिणति को अपनाता है, तो धीरे-धीरे निमल, शुद्ध एव स्वच्छ होता चला जाता है, और एक दिन अनन्तानन्त जगमगाती हुई आध्यात्मिक शक्तियो का पुंज बनकर शुद्ध, बुद्ध, परमात्मा, अरिहन्त, ब्रह्म तथा ईश्वर बन जाता है। श्रमण सस्कृति मे आत्मा की चरम शुद्ध दशा का नाम ही ईश्वर है, परमात्मा है । इसके अतिरिक्त और कोई अनादि सिद्ध ईश्वर नही है । 'कर्म-बद्धो भवेज्जीव, कर्ममुक्तस्तथा जिन ।'

यह है श्रमण-सस्कृति का उत्तारवाद, जो मनुष्य को अपनी ही आत्म-साधना के बल पर ईश्वर होने के लिए ऊर्ध्वमुखी प्रेरणा देता है । यह मनुष्य के अनादिकाल से सोये हुए साहस को जगाता है, विकसित करता है और उसे सत्कर्मों की ओर उत्प्रेरित करता है, किन्तु उसे पामर मनुष्य कहकर उत्साह भग नहीं करता । इस प्रकार श्रमण-सस्कृति मानव-जाति को सर्वोपरि विकास-बिन्दु की ओर अग्रसर होना सिखाती है ।

श्रमण-सस्कृति का हजारो वर्षो से यह उद्घोष रहा है कि वह सवथा परोक्ष एव अज्ञात ईश्वर मे बिल्कुल विश्वास नही रखती । इसके लिए उसे तिरस्कार अपमान, लाञ्छना, भर्त्सना और घृणा, जो भी कडवे-से-कडवे रूप मे मिल सकती थी, मिली । परन्तु वह

अपने अवतार-पद से विचलित नहीं हुई। उसकी हर कदम पर यही चेष्टा रही कि जिस ईश्वर नामधारी व्यक्ति की जीवन-सम्बन्धी कोई निश्चित रूप-रेखा हमारे सामने नहीं है जो अनादिकाल से मात्र कल्पना का विषय ही रहा है, जो सदा से अलौकिक ही रहता चला आया है, वह हम मनुष्यों को क्या आदर्श दिखा सकता है? उसके जीवन एवं व्यक्तित्व पर से हमें क्या कुछ मिल सकता है? हम मनुष्यों के लिये तो वही आत्मोपम्य आदर्श हो सकता है जो कभी मनुष्य ही रहा हो हमारे सामने ही संसार के सुख-दुख एवं माया-मोह से संत्रस्त रहा हो और बाद में अपने अनुभव एवं आध्यात्मिक आचरण के बल से संसार के समस्त सुख-भोगों को ठुकरा कर निर्वाणपद का पूर्ण अधिकारी बना हो सम्यक्त्व सदा के लिये कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर, राग-द्वेष से सर्वथा रहित होकर अपने मोक्ष-स्वरूप अन्तिम आध्यात्मिक लक्ष्य पर पहुँच चुका हो।

'श्रम' में विकास के दर्शन

श्रमण-संस्कृति के तीर्थंकर, अरिहन्त जिन एवं सिद्ध सब इसी कोटि के साधक थे। वे शुरु प्रारम्भ से ही ईश्वर न थे ईश्वर के अंश या अवतार न थे अलौकिक देवता भी न थे। वे बिल्कुल हमारी तरह ही एक दिन इस संसार के साधारण प्राणी थे वासना से लिप्त एवं दुख-शोक आधि-व्याधि से संत्रस्त थे। इन्द्रिय-सुख ही एकमात्र उनका ध्येय था और उन्हीं वैषयिक कल्पनाओं के पीछे अनादि काल से नाना प्रकार के क्लेश उठाते जन्म-मरण के झंझावात में चक्कर खाते घूम रहे थे। परन्तु जब वे आध्यात्मिक साधना के पथ पर आए तो सम्यग्-दर्शन के द्वारा जड़ चेतन के भेद को समझा भौतिक एवं आध्यात्मिक सुख के अन्तर पर विचार किया फलतः संसार की

वासनाओ से मुँह मोड कर सत्पथ के पथिक बन गये और आत्म-सयम की साधना मे लगातार अनेक जन्म बिताकर अन्त मे एक दिन वह मानव-जन्म प्राप्त किया कि जहाँ आत्म-साधना के विकास-स्वरूप अरिहन्त, जिन एव तीर्थकर रूप मे प्रकट हुए। श्रमण सस्कृति के प्राचीन धर्म-ग्रन्थो मे आज भी उनके पतनोत्थान-सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण अनुभव एव धर्म-साधना के क्रमबद्ध चरण-चिन्ह मिल रहे हैं। जिनसे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक साधारणजन मे जिनत्व के अकुर हैं जो उन्हे अपनी साधना के जल-सिचन से विकसित करके महावृक्ष के रूप मे पल्लवित कर सकता है, उसे 'जिनत्व' का अमर-फल प्राप्त हो सकता है। राग-द्वेष-विजेता अरिहतो के जीवन सम्बन्धी उच्च आदर्श साधक-जीवन के लिए, क्रमबद्ध अभ्युदय एव नि श्रेयस के रेखा-चित्र उपस्थित करते हैं। अतएव श्रमण-सस्कृति का उत्तार-वाद केवल सुनने भर के लिए नहीं है, अपितु जीवन के हर अग मे गहरा उतारने के लिए है। उत्तारवाद, मानव-जाति को पाप के फल से बचने की नहीं, अपितु मूलत पाप से ही बचने की प्रेरणा देता है और जीवन के ऊँचे आदर्शो के लिए जनता के हृदय मे अजर, अमर, अनन्त सत्साहस की अखण्ड ज्योति जगा देता है।

२६

जैन-दर्शन ने जब सृष्टिकर्ता और कर्मफल दाता के रूप में ईश्वर का निराकरण किया तो प्रश्न आता है कि प्राणी को सुख-दुख देने वाला कौन है और यह सृष्टि यदि अपने नियत क्रम से चल रही है तो उसका चालक कौन है।
जैन-दर्शन ने इस तर्क का उत्तर 'कर्मवाद' के सिद्धान्त से दिया है।
दर्शन की इन रोचक मान्यताओं की चर्चा करिए प्रस्तुत निबन्ध में समस्याएं भी हैं और समाधान भी है।

जैन-दर्शन का कर्मवाद

दार्शनिक वादों की दुनिया में कर्मवाद भी अपना एक विशिष्ट महत्त्व रखता है। जैन-धर्म की सैद्धान्तिक विचारधारा में तो कर्मवाद का अपना एक विशेष स्थान रहा है अपितु यह कहना अधिक उप-युक्त होगा कि कर्मवाद के मर्म को समझे बिना जैन-संस्कृति और जैन धर्म का यथार्थ ज्ञान हो ही नहीं सकता। जैन-धर्म तथा जैन-संस्कृति का भव्य प्रासाद कर्मवाद की गहरी एवं सुदृढ़ नींव पर ही टिका हुआ है। अतः आइए, कर्मवाद के सम्बन्ध में कुछ मूल-भूत बातें समझें।

कर्मवाद का ध्येय

कर्मवाद की धारणा है कि संसारी आत्माओं की सुख-दुख, संपत्ति-विपत्ति और ऊँच-नीच आदि जितनी भी विभिन्न अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं उन सभी मे काल एव स्वभाव आदि की तरह कर्म भी एक प्रबल कारण है। जैन-दर्शन जीवों की इन विभिन्न परिणतियों में ईश्वर को कारण न मान कर, कर्म को ही कारण मानता है। अध्यात्म-शास्त्र के मर्म स्पर्शी सन्त देवचन्द्र ने कहा है—

> ' रे जीव साहस आदरो मत थावो तुम दीन।
> सुख दुख सम्पद आपदा,, पूर्व कर्म अधीन।"

यद्यपि न्याय वेदान्त आदि वैदिक दर्शनों तथा उत्तरकालीन पौराणिक ग्रंथों में ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता और कर्म फल का दाता माना गया है। परन्तु जैन-सृष्टि-कर्ता और कर्म-फल-दाता के रूप में ईश्वर की कल्पना ही नहीं करता। जैन धर्म का कहना है कि जीव जैसे कर्म करने मे स्वतन्त्र है वैसे ही वह उसके फल भोगने में भी स्वतन्त्र है। मकडी खुद ही अपना जाला बनाती है और खुद ही उसमें फंस जाती है।

आत्मा का कर्मकर्तृत्व स्पष्ट करते हुए एक विद्वान् आचार्य ने क्या ही अच्छा कहा है—

> स्वय कर्म करोत्यात्मा
> स्वय तत्फलमश्नुते।
> स्वय भ्रमति ससार
> स्वय तस्माद विमुच्यते।"

अर्थात् यह आत्मा स्वयं ही कर्म का करने वाला है और स्वयं ही उसका फल भोगने वाला भी है। स्वयं ही संसार में परिभ्रमण करता है और एक दिन धर्म-साधना के द्वारा स्वयं ही संसार-बन्धन से मुक्ति भी प्राप्त कर लेता है।

आक्षेप और समाधान

ईश्वरवादियों की ओर से कर्मवाद पर कुछ आक्षेप भी किये गये हैं उनमें से कुछ मुख्य-मुख्य आक्षेप जान लेने आवश्यक हैं। वे निम्न हैं—

१ प्रत्येक आत्मा अच्छे कर्म के साथ बुरे कर्म भी करता है। परन्तु बुरे कर्म का फल कोई नहीं चाहता है। चोर, चोरी तो करता है पर वह यह कब चाहता है कि मैं पकड़ा जाऊँ? दूसरी बात यह है कि कर्म स्वयं जड़-रूप है वे किसी भी ईश्वरीय चेतना की प्रेरणा के बिना फल प्रदान करने से रहे गये हैं। अतएव कर्मवादियों को मानना चाहिए कि ईश्वर ही प्राणियों को कर्म-फल देता है।

२ कर्मवाद का यह सिद्धान्त ठीक नहीं है कि कर्म से छूट कर सभी जीव मुक्त अर्थात् ईश्वर हो जाते हैं। यह मान्यता तो ईश्वर और जीव में कोई अन्तर ही नहीं रहने देती जो कि सर्वथा अनावश्यक है।

जैन-दर्शन ने उक्त आक्षेपों का सुन्दर तथा युक्ति-युक्त समाधान किया है।

१ आत्मा जैसा कर्म करता है कर्म के द्वारा उसे वैसा ही फल मिल जाता है। यह ठीक है कि कर्म स्वयं जड़-रूप है। और बुरे कर्म का फल भी कोई नहीं चाहता परन्तु यह बात ध्यान में रखने की है चेतन के संसर्ग से कर्म में एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि जिससे वह अच्छे-बुरे कर्मों

का फल जीव पर प्रकट करता है। जैन-धर्म यह कब कहता है कि कर्म-चेतना के सम्पर्क के बिना भी फल देता है? वह तो यही कहता है कि कर्म-फल में ईश्वर का कोई हाथ नहीं है।

कल्पना कीजिए कि एक मनुष्य धूप में खड़ा है और गरम चीज खा रहा है परन्तु चाहता है कि मुझे प्यास न लगे। यह कैसे हो सकता है? एक सज्जन मिर्च खा रहे हैं और चाहते हैं कि मुँह न जले। क्या यह सम्भव है? एक आदमी शराब पीता है और साथ ही चाहता है कि नशा न चढ़े। क्या यह व्यर्थ की कल्पना नहीं है? केवल चाहने और न चाहने-भर से कुछ नहीं होता। जो कर्म किया जाता है उसका फल भी भोगना पड़ता है। इसी विचारधारा को लेकर जैन दर्शन कहता है कि जीव स्वयं कर्म करता है और स्वयं ही उसका फल भी भोगता है। शराब का नशा चढ़ाने के लिए शराब और शराबी के अतिरिक्त क्या किसी तीसरी शक्ति के रूप में ईश्वर आदि की भी आवश्यकता होती है?

ईश्वर चेतन है और जीव भी चेतन है। तब दोनों में भेद क्या रहा? भेद केवल इतना ही है कि जीव अपने कर्मों से बँधा है और ईश्वर उन बन्धनों से मुक्त हो चुका है। एक कवि ने इसी बात को अपनी भाषा में यों प्रकट किया है—

आत्मा परमात्मा में, कर्म का ही भेद है।
काट दे यदि कर्म तो फिर भेद है ना खेद है॥

जैन-दर्शन कहता है कि ईश्वर और जीव में विषमता का कारण औपाधिक कर्म है। उसके हट जाने पर विषमता टिक नहीं सकती। अतएव कर्मवाद के अनुसार यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि सभी मुक्त जीव ईश्वर बन जाते हैं। सोने में से मैल निकाल दिया जाए तो

फिर सोने के शुद्ध होने में क्या किसी को आपत्ति है? आत्मा में से कर्म-मल दूर हो जाए तो फिर शुद्ध आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। अशुद्ध आत्मा संसारी जीव है और शुद्ध आत्मा मुक्त जीव है।

निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्येक जीव कर्म करने में जैसे स्वतन्त्र है वैसे ही कर्म-फल भोगने में भी वह स्वतन्त्र ही रहता है। ईश्वर का वहाँ कोई हस्तक्षेप नहीं होता। और उस हस्तक्षेप की कोई आवश्यकता भी नहीं।

कर्मवाद का व्यावहारिक रूप

मनुष्य जब किसी कार्य को आरम्भ करता है तो उसमें कभी-कभी अनेक विघ्न और बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य का मन चंचल हो जाता है और वह घबरा उठता है। इतना ही नहीं वह किंकर्तव्यविमूढ़ बनकर कभी-कभी अपने आस-पास के संगी-साथियों को अपना शत्रु समझने की भूल भी कर बैठता है। फलस्वरूप अन्तरंग कारणों को भूल कर केवल बाह्य दृश्य कारणों से ही जूझने लगता है।

ऐसी दशा में मनुष्य को पथ-भ्रष्ट होने से बचाकर सत्पथ पर लाने के लिए किसी सुयोग्य गुरु की बड़ी भारी आवश्यकता है। यह गुरु और कोई नहीं कर्म सिद्धान्त ही हो सकता है।

कर्मवाद के अनुसार मनुष्य को यह विचार करना चाहिए—कि जिस अन्तरंग भूमि में विघ्न-रूपी विष-वृक्ष अंकुरित और फलित हुआ है उसका बीज भी उसी भूमि में होना चाहिए। बाहरी शक्ति तो जल और वायु की भाँति मात्र निमित्त कारण हो सकती है। असली कारण तो मनुष्य के अपने अन्दर में ही मिल सकता है, बाहर में नहीं। और वह कारण अपना किया हुआ कर्म ही हो सकता है

और कोई नहीं। अस्तु, जैसे कर्म किए हैं, वैसा ही तो उसका फल मिलेगा। नीम का वृक्ष लगाकर यदि कोई आम के फल चाहे तो कैसे मिलेगे ? मैं वाहर के लोगो को व्यर्थ ही दोप देता हूं। उनका क्या दोष है ? वे तो मेरे अपने कर्मों के अनुसार ही इस प्रतिकूल स्थिति मे परिणत हुए हैं। यदि मेरे कर्म अच्छे होते, तो वे भी अच्छे न हो जाते ? जल एक ही है परन्तु वह तमाखू के खेत मे कडवा वन जाता है, तो ईख के खेत मे मीठा हो जाता है। जल, अच्छा या बुरा नही है। अच्छा और बुरा है, ईख और तमाखू। यही वात मेरे और मेरे सगी-साथियो के सम्वन्ध मे भी है। मैं अच्छा हूं, तो सव अच्छे हैं और मैं वुराई हूं तो सव वुरे हैं।"

मनुष्य को किसी भी काम की सफलता के लिए मानसिक शान्ति की वडी आवश्यकता है। और वह इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त से ही मिल सकती है। आंधी और तूफान में जैसे हिमालय अटल और अचल रहता है वैसे ही कर्मवादी मनुष्य अपनी प्रतिकूल परिस्थितियो मे भी शान्त तथा स्थिर रह कर अपने जीवन को सुखी और समृद्ध वना सकता है। अतएव कर्मवाद मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में वडा उपयोगी प्रमाणित होता है।

कर्म-सिद्धान्त की उपयोगिता और श्रेष्ठता के सम्वन्ध में डॉ० मक्समूलर के विचार वहुत ही सुन्दर और विचारणीय हैं। उन्होंने लिखा है।

यह तो सुनिश्चित है कि कर्मवाद का प्रभाव मनुष्य-जीवन पर बेहद पडा है। यदि किसी मनुष्य को यह मालूम पडे कि वर्तमान अपराध के अतिरिक्त भी मुझको जो कुछ भोगना पडता है, वह मेरे पूर्वकृत कर्म का ही फल है, तो यह पुराने कर्ज को चुकाने वाले मनुष्य

की तरह शान्त भाव से कष्ट को सहन कर लेगा। और यदि वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहन-शीलता के द्वारा पुराना कर्म चुकाया जा सकता है तथा उसी से भविष्यत् के लिए नीति की समृद्धि एकत्रित की जा सकती है तो उस को भलाई के पथ पर चलने की प्रेरणा अपने आप होगी। अच्छा या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नहीं होता। नीति-शास्त्र का यह मत और पदार्थ-शास्त्र का बल संरक्षण-सम्बन्धी मत दोनों समान ही हैं। दोनों मतों का आशय इतना ही है कि किसी भी सत्ता का नाश नहीं होता। किसी भी नीति-शिक्षा के अस्तित्व के सम्बन्ध में कितनी ही शंका क्यों न हो पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्म-सिद्धान्त सबसे अधिक व्यापक रूप में माना गया है। उससे लाखों-करोड़ों मनुष्यों के कष्ट कम हुए हैं। और कर्म-सिद्धान्त से मनुष्यों को वर्तमान कालीन संकट झेलने की शक्ति प्राप्त करने तथा अपने भावी जीवन को सुधारने में भी उत्तेजना प्रोत्साहन और आत्मिक बल मिलता है।

पाप और पुण्य

साधारण जनता यह समझती है कि किसी को कष्ट एवं दुःख देने से पाप-कर्म का बन्ध होता है और इसके विपरीत किसी को सुख एवं सुविधा प्रदान करने से पुण्य-कर्म का बन्ध होता है। परन्तु जब हम दार्शनिक दृष्टि से जैन-धर्म का चिन्तन करते हैं तो पाप और पुण्य की यह उपर्युक्त कसौटी खरी नहीं उतरती। क्योंकि कितनी ही बार उक्त कसौटी के सर्वथा विपरीत परिणाम भी परिलक्षित होते हैं।

एक मनुष्य किसी को कष्ट देता है। जनता समझती है कि वह पाप कर्म बाँध रहा है परन्तु बाँधता है भीतर में पुण्य-कर्म। और कभी कोई मनुष्य किसी को सुख देता है। ऊपर से वह पुण्य-कर्म बाँधने वाला लगता है परन्तु बाँध रहा है अन्दर में पाप-कर्म।

इस गम्भीर भाव को समझने के लिए कल्पना कीजिए—

एक डाक्टर किसी फोड़े के रोगी का ऑपरेशन करता है। उस समय रोगी को कितना कष्ट होता है, वह कितना चिल्लाता है? परन्तु डाक्टर यदि शुद्ध भाव से चिकित्सा करता है, तो वह पुण्य बाँधता है पाप नहीं। माता-पिता हित-शिक्षा के लिए अपनी सन्तान को ताड़न एवं नियन्त्रण में रखते हैं, तो क्या वे पाप बाँधते हैं? नहीं, वे पुण्य बाँधते हैं। इसके विपरीत एक मनुष्य ऐसा है जो दूसरों को ठगने के लिए मीठा बोलता है सेवा करता है, भजन-पूजन भी करता है। क्या वह पुण्य बाँधता है? नहीं वह भयंकर पाप-कर्म का बंध करता है। अन्दर में जहर रखकर ऊपर से मीठा दिखाऊ अमृत से कोई भी पुण्य नहीं बाँध सकता।

अतएव जैन-धर्म का कर्म-सिद्धांत कहता है कि पाप और पुण्य का बंध किसी भी बाह्य क्रिया पर आधारित नहीं है। बाह्य क्रियाओं की पृष्ठभूमि स्वरूप अन्तःकरण में जो शुभाशुभ भावनाएँ हैं, वे ही पाप और पुण्य-बंध की सच्ची कसौटी है। क्योंकि जिसकी जैसी भावना होती है उसे वैसा ही शुभाशुभ कर्म-बंध होता है और तदनुरूप ही शुभाशुभ कर्मफल मिलता है। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

कर्मप्रवाह अनादि है

दार्शनिक क्षेत्र में यह प्रश्न चिरकाल से चल रहा है कि कर्म आदि है अथवा अनादि। आदि का अर्थ है—आदि वाला, जिसका एक दिन आरम्भ हुआ हो। अनादि का अर्थ है—आदि-रहित, जिसका कभी भी आरम्भ न हुआ हो, जो अनन्त काल से चला आ रहा हो। भिन्न भिन्न दर्शनों ने इस सम्बन्ध में भिन्न भिन्न उत्तर दिए हैं। जैन-दर्शन भी इस प्रश्न का अपना एक अकाट्य उत्तर रखता

है। यह अनेकांत'-की भाषा में कहता है कि कर्म सादि भी है और अनादि भी। इसका स्पष्टीकरण यह है कि कर्म किसी एक विशेष से कर्म-व्यक्ति की अपेक्षा से सादि भी है और अपने परम्परा-प्रवाह की दृष्टि से अनादि भी है।

कर्म का प्रवाह कब से चला इस प्रश्न का 'हाँ' में उत्तर है ही नहीं। इसीलिए जैन-दर्शन का कहना है कि कर्म प्रवाह से अनादि है और हमर प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रत्येक क्रिया से नित्य नये कर्मों का बंध करता रहता है। अतः अमुक कर्म विशेष की अपेक्षा से कर्म को सादि भी कहा जाता है।

भविष्यत्काल के समान अतीत काल भी असीम एवं अनन्त है। अतएव भूतकालीन अनन्त का वर्णन 'अनादि' या 'अनन्त' शब्द के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से हो ही नहीं सकता। इसीलिए कर्म बंध की अमुक निश्चित तिथि मानें तो प्रश्न है कि उससे पहले आत्मा किस रूप में था। यदि शुद्ध रूप में था कर्म-बंध से सर्वथा रहित था तो फिर सर्वथा शुद्ध आत्मा को कर्म कैसे लगे? उसी दिन आत्मा का मोक्ष क्यों नहीं हो गया? यदि सर्वथा शुद्ध आत्मा को भी कर्म लग जाएँ तो फिर मोक्ष-दशा में सर्वथा शुद्ध होने पर भी कर्म-बंध का होना मानना पड़ेगा। इस दशा में मोक्ष का मूल्य ही क्या रहेगा? केवल शुद्ध आत्मा को ही क्या बात? ईश्वरवादियों का शुद्ध ईश्वर भी फिर तो कर्म-बंध के द्वारा विकारी एवं संसारी हो जायगा। अतएव शुद्ध अवस्था में किसी भी प्रकार के कर्म-बंध का मानना युक्तियुक्त नहीं है। इसी अमर सत्य को ध्यान में रख कर जैन-दर्शन ने कर्म-प्रवाह को अनादि माना है।

कर्म-बन्ध के कारण

यह एक निश्चित सिद्धांत है कि कारण के बिना कोई भी कार्य नहीं होता। क्या बीज के बिना वृक्ष कभी पैदा होता है? हां, तो कर्म भी एक कार्य है। अतः उसका कोई-न-कोई कारण भी अवश्य होना चाहिए। बिना कारण के कर्म-स्वरूप कार्य किसी प्रकार भी अस्तित्व मे नही आ सकता।

जैन धर्म मे कर्म-बन्ध के मूल कारण दो बतलाए हैं—राग और द्वेष। भगवान् महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन मे कहा है—'रागो य दोसो विय कम्म बीयं।' अर्थात् राग और द्वेष ही कर्म के बीज हैं, मूल कारण हैं। आसक्तिमूलक प्रवृत्ति को राग और घृणामूलक प्रवृत्ति को द्वेष कहते हैं। पुण्य-कर्म के मूल मे भी किसी-न-किसी प्रकार की सांसारिक तृष्णा एव आसक्ति होती है। घृणा और आसक्ति से रहित शुद्ध प्रवृत्ति से कर्म-बंधन टूटता है बंधता नही।

मुक्ति के साधन

कर्म बंधन से रहित होने का नाम मुक्ति है। जैन-धर्म की मान्यता है कि जब आत्मा राग द्वेष के बंधन से सर्वथा छुटकारा पा लेता है आगे के लिए कोई नया कर्म बांधता नही है, और पुराने बंधे हुए कर्मों को भोग लेता है या धर्म-साधना के द्वारा पूर्ण रूप से नष्ट कर देता है तो फिर सदा काल के लिए मुक्त हो जाता है, अजर-अमर हो जाता है। जब तक कर्म और कर्म से कारण राग-द्वेष मे मुक्ति नही मिलती तब तक आत्मा किसी भी दशा मे मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता।

अब प्रश्न [illegible] यह रह जाता है कि कर्म-बंधन से मुक्ति पाने के क्या साधन है क्या उपाय है। जैन धर्म इस प्रश्न का बहुत सुन्दर उत्तर देता है वह कहता है कि—आत्मा ही कर्म बांधने वाला है

और वही उसे तोड़ने वाला भी है। कर्मों से मुक्ति पाने के लिए वह ईश्वर के आगे गिड़गिड़ाने अथवा नदी-नालों और पहाड़ों पर तीर्थ-यात्रा के रूप में भटकने के लिए प्रेरणा नहीं देता। वह मुक्ति का साधन अपनी आत्मा में ही खोजता है। जैन-तीर्थंकरों ने मोक्ष-प्राप्ति के निम्न तीन साधन बताए हैं—

१ सम्यक्-दर्शन

आत्मा है, वह कर्मों से बँधा हुआ है और एक दिन वह बन्धन से मुक्त होकर सदा काल के लिए अजर-अमर परमात्मा भी हो सकता है। इस प्रकार के दृढ़ आत्म-विश्वास का नाम ही सम्यक्-दर्शन है। सम्यक्-दर्शन के द्वारा हीनता और दीनता आदि के भाव क्षीण हो जाते हैं और आत्म-शक्ति में अटल विश्वास का भाव जागृत हो जाता है।

२ सम्यक्-ज्ञान

चैतन्य और जड़ पदार्थों के भेद का ज्ञान करना, संसार और उसके राग-द्वेषादि कारण तथा मोक्ष और उसके सम्यक्-दर्शनादि साधनों का भली-भाँति चिन्तन मनन करना सम्यक् ज्ञान कहलाता है। सांसारिक दृष्टि से कितना ही बड़ा विद्वान क्यों न हो यदि उसका ज्ञान मोह-माया के बन्धनों को ढीला नहीं करता है, विश्व कल्याण की भावना को प्रोत्साहित नहीं करता है, आध्यात्मिक जागृति में बल नहीं पैदा करता है तो वह ज्ञान सम्यक्-ज्ञान नहीं कहला सकता। सम्यक् ज्ञान के लिए आध्यात्मिक चेतना एवं पवित्र उद्देश्य की अपेक्षा है। मोक्षाभिमुखी आत्म चेतना ही वस्तुतः सम्यक्-ज्ञान है।

३ सम्यक्-चारित्र

सम्यक् का अर्थ है सच्चा और चारित्र का अर्थ है आचरण। अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि व्रतों का पालन करना सम्यक्-चारित्र है।

जैन-धर्म चारित्र प्रधान धर्म है। वह केवल भावनाओं और संकल्पों के भरोसे ही नहीं बैठा रहता। उचित पुरुषार्थ ही विकास का मार्ग है, सिद्धि का सोपान है। अतएव विश्वास और ज्ञान के अनुसार अहिंसा एवं सत्य आदि सदाचार की साधना करना ही सम्यक्-चारित्र है।

इस प्रकार जैन-दर्शन मे कर्म और कर्ममुक्ति का विवेचन बहुत ही तर्क-पूर्ण एवं यथार्थ दृष्टि से किया गया है।

२७

जैन-दर्शन में आत्मा का क्या अर्थ है और उसका स्वरूप क्या है—इस विषय में आध्यात्मिक दृष्टि से विचार किया गया है इस अध्याय में।

आत्मा और उसका स्वरूप

आत्मा क्या है ? जो सदा अमर रहता है जिसका कभी नाश नहीं होता जो नारक पशु मनुष्य और देव-गतियों में नाना रूप पाकर भी कभी अपने अजर-अमर स्वरूप से च्युत नहीं होता वह आत्मा है। जिस प्रकार पुराना कपड़ा छोड़कर नया पहना जाता है उसी प्रकार आत्मा भी पुराना शरीर छोड़कर नया शरीर धारण कर लेता है। जन्म-मरण के द्वारा केवल शरीर बदला जाता है आत्मा का कभी नाश नहीं होता। यह आत्मा न शस्त्र से कटता है न आग में जलता है न धूप में सूखता है न जल में भीगता है न हवा में उड़ता है। यह सनातन और अचल है।

आत्मा की ज्ञानरूपता

आत्मा ज्ञान-रूप है। हर एक वस्तु को जानना देखना मालूम करना आत्मा का ही धर्म है। जब तक मनुष्य जीवित रहता है अर्थात् शरीर में आत्मा रहता है तब तक जानता है देखता है सूँघता है चखता है छूता है सुख-दुख का अनुभव करता है और जब शरीर में आत्मा नहीं रहता है तब कुछ भी ज्ञान-शक्ति नहीं रहती। अतः जैन-धर्म में आत्मा को ज्ञान स्वरूप कहा है।

अमूर्त और अनन्त

आत्मा अमूर्त है। उसमें न रूप है, न रस है, न गध है, न स्पर्श है। आत्मा पकडने जैसी चीज नहीं है। सब पदार्थों में वायु को सूक्ष्म कहा जाता है। परन्तु वायु का तो स्पर्श होता है, आत्मा का तो स्पश भी नहीं होता। अतएव वह अमूर्त है। रूप, रस आदि जड शरीर के धर्म हैं, आत्मा के नही।

ससार मे आत्मा अनन्त है। अनन्त का अर्थ है, जो गिनती से बाहर हो, जो सीमा से बाहर हो, जो नाप-तौल से बाहर हो। आत्माओ की सख्या और काल की दृष्टि से कभी अन्त नहीं होता, इसलिए अनन्त हैं। यही कारण है कि अनन्त काल से आत्माएँ मोक्ष में जा रही हैं, फिर भी ससार मे आत्माओ का कभी अन्त नहीं आया और न कभी भविष्य मे आएगा। जो अनन्त है, फिर भला उनका अन्त कैसा ? यदि अनन्त का भी कभी अन्त आ जाए, तब तो अनन्त शब्द ही मिथ्या हो जाए।

ससारी और सिद्ध

आत्मा के दो भेद हैं—'ससारी' और 'सिद्ध'। सिद्धो मे भेद का कारण कर्म-मल नही रहता है अत वहाँ कोई मौलिक भेद नही होता। हाँ, ससारी दशा मे कम का मल लगा रहता है, अत ससारी जीवों के नरक, तिर्यञ्च आदि गति और एकेन्द्रिय आदि जाति—इस प्रकार भिन्न-भिन्न दृष्टि से अनेक भेद हैं।

आत्मा के तीन प्रकार

यहाँ हम त्रस स्थावर, सज्ञी, असज्ञी आदि भेदो मे न जाकर आत्मा क और ही तीन भेद बताना चाहते हैं—(१) वहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा, (३) और परमात्मा। ये तीन भेद भावो की अपेक्षा

ते हैं। जैन-धर्म के आध्यात्मिक ग्रन्थों में इसका विस्तृत विवेचन किया गया है किन्तु यहाँ संक्षेप में ही उनका स्वरूप बतलाते हैं।

बहिरात्मा

प्रथम श्रेणी के प्राणी बहिरात्मा हैं। बहिरात्मा का अर्थ है—'बहिर्मुख आत्मा'। जो आत्मा संसार के भोग-विलासों में डूबे रहते हैं जिन्हें सत्य और असत्य का कुछ भान नहीं रहता जो धर्म और अधर्म का विवेक भी नहीं रखते वे बहिरात्मा हैं। बहिरात्मा आत्मा और शरीर को पृथक्-पृथक् नहीं समझता। वह शरीर के नाश को आत्मा का नाश और शरीर के जन्म को आत्मा का जन्म मानता है। यह दशा बहुत बुरी है। यह आत्मा का स्वभाव नहीं विभाव है। अतः इस दशा को त्याग कर अन्तरात्मा की ओर आना चाहिए।

अन्तरात्मा

द्वितीय श्रेणी के विकसित आत्मा अन्तरात्मा कहलाते हैं। अन्तरात्मा का अर्थ है—'अन्तर्मुख आत्मा'। जो आत्मा भौतिक सुख के प्रति अरुचि रखते हों सत्य और असत्य का भेद-भाव समझते हों धर्म और अधर्म का विवेक रखते हों वे अन्तरात्मा हैं। अन्तरात्मा शरीर और आत्मा को पृथक्-पृथक् समझता है। वह शरीर के सुख दुख से आकुल-व्याकुल नहीं होता। अहिंसा सत्य आदि पर विश्वास रखता है और यथाशक्ति आचरण करता है। सम्यक्-दृष्टि श्रावक श्राविका और साधु-साध्वी सब अन्तरात्मा हैं। अन्तरात्मा साधक दशा है। यहीं आध्यात्मिक जीवन की साधना प्रारम्भ होती है और विकास पाती है।

परमात्मा

अन्तरात्मा साधना करते-करते जब आध्यात्मिक विकास की सर्वोच्च

भूमिका पर पहुँचता है, तब सर्वज्ञ, सर्वदर्शी परमात्मा हो जाता है। वीतराग भगवान् श्री महावीर स्वामी आदि तीर्थंकर इसी भूमिका पर थे। परमात्मा का अर्थ है परम+आत्मा। परम-पूर्ण रूप से उत्कृष्ट आत्मा। परमात्मा के दो भेद हैं—१ जीवन्मुक्त श्री अरिहन्त भगवान् और २ विदेह-मुक्त श्री सिद्ध भगवान। मोक्ष मे पहले शरीरधारी परमात्मा जीवन्मुक्त अरिहन्त कहलाते हैं, और शरीर से रहित होकर मोक्ष मे पहुँचने पर ही वे सिद्ध भगवान् हो जाते हैं।

बहिरात्मा ससारी-जीवन का प्रतिनिधि है। अन्तरात्मा साधक-जीवन का प्रतिनिधि है और परमात्मा साध्य जीवन का प्रतिनिधि है। बहिरात्मा-दशा का त्याग कर अन्तरात्मा होना चाहिए और फिर विकास करते करते परमात्मा की भूमिका तक पहुँचा जा सकता है। परमात्मा हमारा लक्ष्य है। जैन धर्म का सिद्धान्त है कि प्रत्येक आत्मा रहित होकर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी परमात्मा हो सकता है। इसलिए जैन-धर्म का यह मूल स्वर है कि 'अप्पा सो परमप्पा' अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है।

२८

धर्म शब्द जितना व्यापक है उतनी ही विभिन्न हैं उसकी परिभाषाएँ। अतः धर्म की शुद्ध और सही परिभाषा समझना भी कठिन हो गया है।

प्रस्तुत अध्याय में धर्म की यथार्थ परिभाषा पढ़िए।

आत्म धर्म

'धर्म क्या वस्तु है तथा धर्म किसे कहते हैं'—यह प्रश्न बड़ा गंभीर है। भारतवर्ष के जितने भी मत पंथ या सम्प्रदाय हैं सभी ने इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न किया है। किसी ने किसी बात में धर्म माना है तो किसी ने किसी बात में धर्म माना है। सबके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं।

धर्म के भिन्न-भिन्न स्वरूप

पुराने मीमांसा सम्प्रदाय के मानने वाले कहते हैं कि यज्ञ करना धर्म है। यज्ञ में बकरा अश्व आदि पशुओं का हवन करने से बहुत बड़ा धर्म होता है, और मनुष्य स्वर्ग को जाता है। भगवान् महावीर के समय में इस मत का बड़ा प्रचलन था। भगवान का विचार-संघर्ष इसी वैदिक-सम्प्रदाय से हुआ था। आज भी देवी-देवताओं के आगे पशु-बलि करने वाले लोग इसी सम्प्रदाय के अनुयायी हैं।

पौराणिक-धर्म के मानने वाले कहते हैं कि भगवान् की भक्ति करना ही धर्म है। मनुष्य कितना ही पापी क्यों न हो यदि वह भग

वान् की शरण स्वीकार कर लेता है, उसका नाम जपता है, तो वह सब पापो से मुक्त हो जाता है। श्रीकृष्ण, राम और शिव आदि की उपासना करने वाले उसी पौराणिक धर्म के मानने वाले हैं। भगवद्-भक्ति ही पौराणिक-धम की विशेषता है।

और कितने उदाहरण दिये जाएँ? भिन्न भिन्न विचारधाराओ मे धर्म का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न रूप से वणन किया गया है। कुछ लोग नहाने मे धम मानते हैं, कुछ लोग ब्राह्मणो को भोजन कराने में धर्म मानते हैं, कुछ लोग पूजा पाठ जप, तिलक-छापा आदि मे धर्म मानते हैं। सब लोग धम का स्थूल रूप जनता के सामने रख रहे हैं। धर्म के सूक्ष्म रूप का दशन वे नही कर पाते।

वत्थुसहावो धम्मो

जैन धम का सूक्ष्म चिन्तन ससार मे प्रसिद्ध है। वह वस्तु के बाह्य रूप पर उतना ध्यान नही देता जितना कि उसके सूक्ष्म रूप पर ध्यान देता है। जैन धम कहता है—वत्थुसहावो धम्मो'। वस्तु का निज स्वभाव ही धम है। धम कोई पृथक वस्तु नही है। वस्तु का जो अपना मूल स्वभाव है, स्वरूप है, वही धम है। और जो पर-वस्तु के सयोग से बिगडा हुआ स्वभाव है जिसे दाशनिक भाषा में विभाव कहते हैं, वही अधम है।

उदाहरण के लिए जल को लिया जा सकता है। जल का मूल स्वभाव क्या है? शीतल रहना तरल रहना, स्वच्छ रहना ही जल का मूल स्वभाव है। इसके विपरीत उष्ण होना जम जाना मलिन होना असली स्वभाव नहीं है, विभाव है। क्योकि उष्णता आदि विपरीत धम जल मे अग्नि आदि दूसरी वस्तुओ के मेल से आते हैं।

धर्म का शुद्ध स्वरूप

अब हमें विचार करना है कि—हम आत्मा हैं हमारा स्वभाव या धर्म क्या है। जो आत्मा का स्वभाव होगा वही हम सच्चा धर्म होगा। उसी से वास्तविक कल्याण हो सकेगा।

आत्मा का धर्म सत् चित् और आनन्द है। सत् का अर्थ सत्य है जो कभी मिथ्या न हो सके। चित् का अर्थ चेतना है, ज्ञान है जो कभी जड़स्वरूप न हो सके। आनन्द का अर्थ सुख है जो कभी दुःख रूप न हो सके। आत्मा का अपना धर्म यही है। इसके विपरीत संसार में भ्रमण करना मिथ्या विश्वासों में उलझे रहना अज्ञान से आवृत रहना आधि-व्याधि आदि का दुःख होना आत्मा का असली निज-धर्म नहीं है। यह विभाव है अधर्म है। आत्मा से भिन्न विजातीय कर्मों के मेल के कारण ही यह सब मिथ्या प्रपंच है यही कारण है कि संसार में सब आत्माएँ एक समान नहीं हैं। सब भिन्न भिन्न अवस्थाओं और स्वरूपों में चक्कर काट रही हैं। यदि यह सब आत्मा का अपना स्वरूप होता तो इतनी भिन्नता क्यों होती? वस्तु का अपना धर्म तो एक ही होता है वहाँ भेद कैसा? अस्तु यह सिद्ध है कि आत्मा की यह वर्तमान अवस्था कर्मों का फल है और इसी कारण भिन्नता है। जैन-धर्म कहता है कि जब आत्मा मोक्ष-दशा में पहुँच जायेगी तो प्रत्येक आत्मा एक समान हो जाएगी। फिर वहाँ छोटे-बड़े का शुद्ध-अशुद्ध का कोई भेद नहीं रहेगा। और मोक्ष का यह शुद्ध स्वरूप ही आत्मा का अपना असली स्वभाव है धर्म है।

ऊपर की पंक्तियों में आत्मा का धर्म जो सत् चित् आनन्द बताया है, वही जैन-आचार्यों की भाषा में सम्यक्-दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक्-चारित्र कहलाता है। इसी को 'रत्नत्रय' कहते हैं। आत्मा की यही अन्तरंग विभूति है सम्पत्ति है। जब आत्मा विभाव परिणति को त्याग कर स्वभाव परिणति

मे आता है, तो 'रत्नत्रय' रूप जो अपना शुद्ध स्वरूप है, उसे ही अपनाता है। अस्तु, आत्मा का सच्चा धर्म यही 'रत्नत्रय' है। बाह्याचरण रूप क्रिया-काण्डो मे उलझ कर जनता व्यर्थ ही कष्ट पाती है। वह भेद-बुद्धि का मार्ग है, अभेद-बुद्धि का नही। निश्चय दृष्टि मे तो यही धर्म का शुद्ध स्वरूप है।

२९

जातिवाद मानवजाति के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ है। उसके आधार पर धर्म-जैसी पवित्र वस्तु को भी टुकड़ों में बाँट दिया गया और मानव पर भयंकर अत्याचार किये गये।

प्रस्तुत निबन्ध में पढ़िए—जातिवाद के अभिशाप के विरुद्ध महाश्रमण भगवान् महावीर का क्रान्त उद्घोष और जातिनिरपेक्ष धर्म संघ की रचना का इतिहास।

भगवान महावीर और जातिवाद

आजकल भारत का धार्मिक वायुमण्डल बहुत ही क्षोभ और उथल-पुथल से भरा नजर आ रहा है। जिधर देखो उधर ही धार्मिक क्रांति की लहर चल रही है। आज का युग धार्मिक संघर्ष का युग माना जाता है। यही कारण है कि वर्तमान युग में धार्मिक विचारों को लेकर खासी-खासी मुठभेड़ होती रहती है।

आजकल की सबसे बड़ा वैचारिक संघर्ष है वह है स्पृश्य एवं अस्पृश्य आदि जातिवाद की व्यवस्था के सम्बन्ध में। इस विषय में एक पक्ष कुछ व्यवस्था देता है तो दूसरा पक्ष कुछ और ही। इस समय भारत का समस्त धार्मिक जगत् स्थिति-पालक और सुधारक नामक दो परस्पर विरुद्ध पक्षों में बँटा हुआ है। दोनों पक्षों की ओर से अपने-अपने पक्ष की पुष्टि के लिए आकाश-पाताल एक किए जा रहे हैं।

'परन्तु वास्तव मे सत्य क्या है, यह अभी बीच में ही लटक रहा है। अन्तिम निर्णय के लिए प्रत्येक धर्म वाले अपने-अपने धर्म-प्रवर्तकों को न्यायाधीश के रूप में आगे ला रहे हैं और उनके इस सम्बन्ध मे दिए हुए निणय प्रकट किए जा रहे हैं। इससे वहुत कुछ सत्य पर प्रकाश पडा है फिर भी वास्तविक निर्णय तो अभी अन्धकार में ही है।

जातिवाद का ताण्डव

आज से करीब ढाई हजार वर्ष पहले स्पृश्य-अस्पृश्य के सम्बन्ध मे भारत की अब से कहीं अधिक भयकर स्थिति थी। शूद्रों की छाया तक से घृणा की जाती थी और उनका मुँह देखना भी बडा भारी पाप समझा जाता था। उन्हें सार्वजनिक धर्म-स्थानो एवं सभाओं मे जाने का अधिकार नहीं था। और तो क्या, जिन रास्तो पर पशु चल सकते हैं उन पर भी वे नहीं चल सकते थे। वेद आदि धम-शास्त्र पढने तो दूर रहे विचारे सुन भी नही सकते थे। यदि किसी अभागे ने राह चलते हुए कहीं भूल से सुन लिया तो उसी समय धर्म के नाम पर दुहाई मच जाती थी, और धम के ठेकेदारो द्वारा उसके कानो मे खौलता हुआ सीसा भरवा दिया जाता था। कितना घोर अत्याचार! बात यह थी कि सर्वत्र जातिवाद का बोलबाला था, धर्म के नाम पर अधर्म का विष वृक्ष सींचा जा रहा था।

भगवान् महावीर की क्राति

जैन धर्म स्पृश्यास्पृश्य और जातिवाद की इस समस्या पर प्रारम्भ से ही उदार दृष्टिकोण अपना कर चला है। अतएव उस युग मे भगवान् महावीर ने अपने धर्म संघ मे अन्त्यज और अस्पृश्य कहलाने वाले व्यक्तियो को भी वही स्थान दिया जो ब्राह्मण क्षत्रिय आदि उच्च कुलो के लोगो का था।

भगवान महावीर के इस युगान्तरकारी विधान से ब्राह्मणो एव

दूसरे उच्च वर्गों के लोगों में बड़ी भारी खलबली मची। फलतः उन्होंने इसका यथाशक्य घोर विरोध भी किया। परन्तु भगवान् महावीर आदि से अन्त तक अपने तर्कसंगत मानवीय सिद्धान्त पर अटल रहे। उन्होंने विरोध की तनिक भी परवाह न की।

भगवान् महावीर की व्याख्यान-सभा में जिसे समवसरण कहते हैं आने वाले श्रोताओं के लिए कोई भी भेद-भाव नहीं था। उनके उपदेश में जिस प्रकार ब्राह्मण आदि उच्च कुलों के लोग आते-जाते थे ठीक उसी प्रकार चाण्डाल आदि भी। बैठने के लिए कुछ पृथक् पृथक् प्रबन्ध भी नहीं होता था। सब-के-सब लोग परस्पर भाई-भाई की तरह मिल जुल कर बैठ जाया करते थे। किसी को किसी प्रकार का संकोच नहीं होता था। व्याख्यान-सभा का सबसे पहला कठोर साथ ही मृदुल नियम यह था कि कोई किसी को अलग बैठने के लिए तथा बैठे हुए को उठ जाने के लिए नहीं कह सकता था। पूर्ण साम्य-भाव का साम्राज्य था। जिसकी जहां इच्छा हो बैठे। कोई किसी को झिड़कने तथा दुत्कारने वाला नहीं था। क्या मजाल जो कोई उच्च जाति के अभिमान में आकर कुछ आना-कानी कर सके। यह सब क्यों था? भगवान् महावीर वस्तुतः दीनबन्धु थे। उन्हें दीनों से प्रेम था।

उदारता का उज्ज्वल दर्शन

भगवान् महावीर के जातिवाद सम्बन्धी उदात्त विचारों के निदर्शन की अनेक घटनाएँ जैन इतिहास में आज भी सुरक्षित हैं। हम यहाँ विस्तार में न जाकर केवल एक घटना का ही उल्लेख करेंगे जो भगवान् महावीर के उदार जीवन की महत्ता का दिव्य चित्र उपस्थित करती है।

घटना पोलासपुर की है। वहाँ के सद्दालपुत्र नामक कुम्हार की

प्रार्थना पर भगवान् महावीर स्वयं उसकी निजी कुम्भकारशाला में जाकर ठहरे थे। वहीं पर उसकी मिट्टी के घडो का प्रत्यक्ष दृष्टान्त देकर धर्मोपदेश दिया और अपना धर्मानुयायी बनाया। भविष्य मे यही कुम्हार भगवान् महावीर के दश श्रावको मे प्रमुख श्रावक हुआ एवं सघ मे बहुत अधिक आदर की दृष्टि से देखा गया। उपासक-दशांग सूत्र मे इसके वर्णन का एक स्वतन्त्र अध्याय है। जिज्ञासु यहाँ देख सकते हैं। इस दृष्टान्त से भगवान् महावीर का दलित एव हीन जाति के लोगो के प्रति प्रेम का पूर्ण परिचय मिल जाता है। बडे-बडे राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार और ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि की अपेक्षा भगवान् महावीर ने एक कुम्हार को कितना अधिक महत्व दिया है? विश्व-वद्य महापुरुष का, एक साधारण कुम्हार के घर पर पधारना, कोई मामूली घटना नहीं है। भवगान् महावीर के उदार विचारो का यह सच्चा चित्र है।

जाति जन्म से नहीं, कर्म से

भगवान् महावीर के वर्ण-व्यवस्था-सम्बन्धी विचार अतीव उग्र एव क्रान्तिकारी थे। वे जन्मत किसी को ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र आदि नहीं मानते थे। उन्होंने सदा कर्त्तव्य पर ही जोर दिया है। जातिवाद को कभी भी प्रश्रय नहीं दिया। उन्होंने जाति को जन्म से नहीं, कर्म से माना है। इस विषय मे उनका मुख्य धर्म-सूत्र था—

> "कम्मुणा बम्भणो होई,
> कम्मुणा होई खत्तिओ।
> वइसो कम्मुणा होई,
> सुद्दो हवई कम्मुणा।"
>
> —उत्तराध्ययन २५, ३३

अर्थात् जन्म की अपेक्षा से सब-के-सब मनुष्य हैं। कोई भी व्यक्ति

जन्म से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र होकर नहीं आता। वर्ण-व्यवस्था तो मनुष्य के अपने स्वीकृत कर्तव्य से होती है। जो जो जैसा करता है वह वैसा ही हो जाता है। अर्थात् कर्तव्य के बल से ब्राह्मण शूद्र हो सकता है और शूद्र ब्राह्मण हो सकता है।

भगवान् महावीर के संघ में एक मुनि थे। उनका नाम था हरि केशबल। वे चाण्डाल-कुल में पैदा हुए थे। उनका इतना त्यागी एवं तपस्वी जीवन था कि बड़े-बड़े सार्वभौम सम्राट तक भी उन्हें अपना गुरु मानते थे और भक्ति-भाव उनके चरण कमल छुआ करते थे। और तो क्या मनुज है देवता भी इनके भक्त थे। इन्हीं घोर तपस्वी हरिकेश मुनि हरिकेशबल की गौरव-गाथा के सम्बन्ध में पावापुरी की महती सभा में भगवान् महावीर ने कहा है—

सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो
न दीसई जाइ-विसेस कोई ।
सोवाग-पुत्तो हरिएस साहू
जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा ॥

—उत्तराध्ययन १२ ३७

अर्थात् प्रत्यक्ष में जो कुछ महत्त्व दिखाई देता है वह सब गुणों का ही है जाति का नहीं। जो लोग जाति को महत्त्व देते हैं वे वास्तव में बहुत भयंकर भूल करते हैं। क्योंकि जाति की महत्ता किसी भाँति भी सिद्ध नहीं होती चाण्डाल-कुल में पैदा हुआ हरिकेश मुनि अपने गुणों के बल से आज किस महान् पद पर पहुँचा है। इसकी महत्ता के सामने बिचारे जन्मतः ब्राह्मण क्या महत्ता रखते हैं? महा नुभाव हरिकेश में चाण्डालपन का क्या शेष है वह तो ब्राह्मणों का भी ब्राह्मण बन गया है।

क्षत्रिय विरोध

भगवान् महावीर के अपने धर्म प्रचार-काल में जातिवाद का

प्रबल कठोर सक्रिय खण्डन किया था, और एक तरह से उस समय जातिवाद का अस्तित्व ही नष्ट-सा हो गया था। जहाँ कही जाति-वाद का प्रसग आया है, भगवान् महावीर ने केवल पाँच जातियाँ ही स्वीकार की हैं, जो कि जन्म से मृत्यु-पर्यन्त रहती हैं, बीच मे भग नहीं होती। वे पाँच जातियाँ हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतु-रिन्द्रिय पचेन्द्रिय। इनके अतिरिक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि लौकिक जातियो का जाति रूप से आगम-साहित्य मे कही पर भी विधानात्मक उल्लेख नही मिलता। यदि श्रमण भगवान महावीर प्रचलित जाति-वाद को सचमुच मानते होते, तो वे वैदिक धर्म की भाँति कदापि अन्त्यज लोगो को अपने सघ में आदर योग्य स्थान नही देते। भगवान् महावीर के धर्म-सघ मे चारो वर्णों का विचित्र समन्वय था, भगवान् महावीर स्वय एक क्षत्रिय कुमार थे, उनके प्रधान शिष्य गौतम क्रिया-काण्डी ब्राह्मण विद्वान थे, शालिभद्र और धन्ना जैसे श्रेष्ठी (वैश्य) पुत्र भी उनके प्रमुख तपस्वी शिष्यो मे थे, तो हरिकेशबल और मेतार्य जैसे शूद्र और अन्त्यज भी उनके धर्म-सघ मे प्रतिष्ठित तपस्वी के रूप में आदर प्राप्त करते थे। आनन्द श्रावक जो स्वय एक बडा किसान था, सद्दाल पुत्र जो एक प्रतिष्ठित कुम्हार था। ये दोनो ही भगवान् के एक ही कक्षा के प्रमुख श्रावक थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् महावीर ने उस युग के जातिवाद के बन्धनो को तोड़कर एक महान् धर्म क्रान्ति का सूत्रपात किया। भगवान् ने अन्त्यज तो क्या, अनार्यो तथा म्लेच्छो तक को भी दीक्षा लेने का अधिकार दिया है, और अन्त मे कैवल्य प्राप्त कर मोक्ष पाने का भी बड़े प्रभावशाली शब्दो मे सम-र्थन किया है। धर्म शास्त्र पढने-पढाने के विषय मे भी, सबके लिए उन्मुक्त द्वार रखने की आज्ञा दी है। इस विषय मे किसी के प्रति

किसी भी प्रकार की जाति-सम्बन्धी प्रतिबंधकता का होना उन्हें कभी भी पसन्द नहीं था।

जातिवाद का खण्डन करते हुए भगवान् महावीर ने स्पष्ट शब्दों में जातिवाद को घृणित बताया है और जातिमद से अकड़ने वाले लोगों को खासी लताड़ बताई है। आठ मदों में प्रथम जातिमद के प्रति भगवान् महावीर का यह कथन है कि जातिमद मनुष्य के घोर अधःपतन का कारण है। जो मनुष्य जातिमद में आकर ऐंठने लग जाते हैं वे इस लोक में भी अपना उच्च व्यक्तित्व खो बैठते हैं और परलोक से भी नरक तिर्यञ्च आदि अधम गतियों में घोर यातनाएँ भोगते हैं। जातिवाद का सहारा लेकर किसी को घृणा की दृष्टि से देखना या अपमानित करना बड़ा भारी भीषण पाप है? वास्तव में जिन्हें अस्पृश्य समझना चाहिए, वे तो पाप हैं दुराचार हैं। अतः घृणा के योग्य भी वे ही हैं, न कि मनुष्य। अतः प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह स्वयं अपने पापों को ही अस्पृश्य समझे और प्रचलित अस्पृश्यता को दूर करने के लिए यथाशक्य प्रयत्न करे।

नीच गोत्र क्या है?

कुछ लोग उच्च गोत्र तथा नीच-गोत्र का हवाला देकर भगवान् महावीर को जन्मतः उच्च-नीचता का समर्थक बतलाने की चेष्टा करते हैं वे यथार्थ में भूलते हैं। उच्च-नीच गोत्रों का यह भाव नहीं है, जैसा कि कुछ लोग समझे हुए हैं। गोत्र-व्यवस्था का यह कोई नियम नहीं है कि वह जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त रहे ही बीच में परिवर्तित न हो। गोत्र-व्यवस्था का सम्बन्ध भी तो अन्तर्जीवनस्थ गुणों से ही है। इसके लिए भगवान् महावीर के कर्म सिद्धान्त का तलस्पर्शी परिशीलन करना चाहिए। बिना इसके यथार्थता का भान होना कठिन ही नहीं अति कठिन है। भगवान् महावीर ने आत्मिक विकास की तरतमता की दृष्टि से साधक-जीवन के लिए चौदह भूमिकाएँ बत-लाई हैं, जिन्हें जैनागम की परिभाषा में गुणस्थान कहते हैं। प्रत्येक

अत्यन्त कठोर सक्रिय खण्डन किया था, और एक तरह से उस समय जातिवाद का अस्तित्व ही नष्ट-सा हो गया था। जहाँ कहीं जातिवाद का प्रसग आया है, भगवान् महावीर ने केवल पाँच जातियाँ ही स्वीकार की हैं, जो कि जन्म से मृत्यु-पर्यन्त रहती हैं, बीच मे भग नहीं होती। वे पाँच जातियाँ हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय पचेन्द्रिय। इनके अतिरिक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि लौकिक जातियो का जाति रूप से आगम-साहित्य मे कही पर भी विधानात्मक उल्लेख नही मिलता। यदि श्रमण भगवान महावीर प्रचलित जातिवाद को सचमुच मानते होते, तो वे वैदिक धर्म की भाँति कदापि अन्त्यज लोगो को अपने सघ में आदर योग्य स्थान नही देते। भगवान् महावीर के धर्म-सघ मे चारो वर्णों का विचित्र समन्वय था, भगवान् महावीर स्वय एक क्षत्रिय कुमार थे, उनके प्रधान शिष्य गौतम क्रियाकाण्डी ब्राह्मण विद्वान थे, शालिभद्र और धन्ना जैसे श्रेष्ठी (वैश्य) पुत्र भी उनके प्रमुख तपस्वी शिष्यो मे थे, तो हरिकेशबल और मेतार्य जैसे शूद्र और अन्त्यज भी उनके धर्म-सघ मे प्रतिष्ठित तपस्वी के रूप में आदर प्राप्त करते थे। आनन्द श्रावक जो स्वय एक बडा किसान था, सद्दाल पुत्र जो एक प्रतिष्ठित कुम्हार था। ये दोनो ही भगवान् के एक ही कक्षा के प्रमुख श्रावक थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् महावीर ने उस युग के जातिवाद के बन्धनो को तोडकर एक महान् धर्म क्रान्ति का सूत्रपात किया। भगवान् ने अन्त्यज तो क्या, अनार्यो तथा म्लेच्छो तक को भी दीक्षा लेने का अधिकार दिया है, और अन्त मे कैवल्य प्राप्त कर मोक्ष पाने का भी बडे प्रभावशाली शब्दो मे समर्थन किया है। शास्त्र पढने-पढाने के विषय मे भी, सबके लिए उन्मुक्त द्वार रखने की आज्ञा दी है। इस विषय मे किसी के प्रति

किसी भी प्रकार की जाति-सम्बन्धी प्रतिबंधकता का होना उन्हें कभी भी पसन्द नहीं था।

जातिवाद का खण्डन करते हुए भगवान् महावीर ने स्पष्ट शब्दों में जातिवाद को दूषित बताया है और जातिमद से अकड़ने वाले लोगों को खासी लताड़ बताई है। आठ मदों में प्रथम जातिमद के प्रति भगवान् महावीर का यह कथन है कि जातिमद मनुष्य के घोर अधःपतन का कारण है। जो मनुष्य जातिमद में आकर ऐंठे जा रहे हैं वे इस लोक में भी अपना उच्च व्यक्तित्व खो बैठते हैं और परलोक में भी नरक-तिर्यञ्च आदि अधम गतियों में घोर यातनाएँ भोगते हैं। जातिवाद का बहाना लेकर किसी को घृणा की दृष्टि से देखना या अपमानित करना बड़ा भारी भीषण पाप है! वास्तव में जिन्हें अस्पृश्य समझना चाहिए, वे तो पाप हैं दुराचार हैं। अतः घृणा के योग्य भी वे ही हैं न कि मनुष्य! अतः प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह स्वयं अपने पापों को ही अस्पृश्य समझे और प्रचलित अस्पृश्यता को दूर करने के लिए यथाशक्य प्रयत्न करे।

नीच गोत्र क्या है?

कुछ लोग उच्च गोत्र तथा नीच-गोत्र का हवाला देकर भगवान् महावीर को जन्मतः उच्च-नीचता का समर्थक बतलाने की चेष्टा करते हैं वे यथार्थ से दूर हैं। उच्च-नीच गोत्रों का यह भाव नहीं है, जैसा कि कुछ लोग समझे हुए हैं। गोत्र-व्यवस्था का यह कोई नियम नहीं है कि वह जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त एक ही गोत्र में परिवर्तित न हो। गोत्र-व्यवस्था का सम्बन्ध भी तो व्यक्तिगत गुणों से ही है। इसके लिए भगवान् महावीर के कर्म-सिद्धान्त का तलस्पर्शी परिशीलन करना चाहिए। बिना इसके यथार्थता का ज्ञान होना कठिन ही नहीं अति कठिन है। भगवान् महावीर ने आत्मिक विकास की तरतमता की दृष्टि से साधक-जीवन के लिए चौदह श्रेणियाँ बतलाई हैं जिन्हें जैनागम की परिभाषा में गुणस्थान कहते हैं। प्रत्येक

जीव, जो मोक्ष प्राप्त करता है, इन चौदह गुणश्रेणियो को उत्तीर्ण करता है। इन श्रेणियो के वर्णन मे भगवान् महावीर ने कहा है कि मनुष्य को नीच-गोत्र का उदय प्रथम के चार गुण स्थानो तक ही रहता है आगे के गुण स्थानो मे पहुँचते ही नीच-गोत्र नष्ट हो जाता है और उसके स्थान मे उच्च-गोत्र का उदय हो जाता है। पाँचवाँ गुणस्थान सदाचारी गृहस्थ का और छठा साधु का होता है। अत स्पष्ट है कि आचार शुद्ध होते ही मनुष्य नीच-गोत्र से उच्च-गोत्र वाला बन जाता है। यदि गोत्र का सम्बन्ध नियत रूप से आमरण होता, तो भगवान् महावीर यह गुण-सम्बन्धी व्यवस्था कदापि नही देते। अस्तु, गोत्र शब्द के वास्तविक अर्थ की अनभिज्ञता के कारण जन्मत मृत्युपर्यन्त उच्च नीचता के शोर मचाने वाले सज्जन, अपनी भूल को दूर करें और भगवान महावीर के उदार विचारो को अनुदार बनाने का दुस्साहस न करें।

जैन-धर्म का सच्चा उपासक कौन ?

यद्यपि भगवान् महावीर के उत्तरवर्ती आचार्यों मे वैदिक परम्परा के निकट सम्पर्क मे रहने के कारण जातिवाद के पृष्ठपोषक कुछ विचार घर कर गये हैं। व भी जनस्थान मन्दिर और भिक्षा आदि के सम्बन्ध मे वैदिक परम्परा का अनुसरण करके स्पृश्य-अस्पृश्य का भेद खड़ा कर रहे हैं, पर उन्हे समझना चाहिए कि यह विचार मूलत जैनधर्म का एव हमारे परमाराध्य भगवान महावीर का नही है।

जैन धर्म प्रारम्भ से ही जातिवाद का विरोधी रहा है। इतिहास बताता है कि वैदिक-परम्परा के कट्टर जातिवाद के समक्ष श्रमण-परम्परा ने कितना कड़ा सघर्ष किया है। और साथ ही, कितना बलिदान किया है। आचार्य जिनसेन के शब्दो मे उसका सदा से यही उद्घोष रहा है कि— मनुष्यजातिरेकैव'—मनुष्य जाति एक है, मनुष्य

---

१ पचम गुणस्थान मे नीच गोत्र के उदय का उल्लेख पशु जाति के लिए किया गया है मनुष्य के लिए नही।

मनुष्य के बीच किसी प्रकार का भेद नहीं है। कोई जन्म से ऊँच-नीच और छोटा-बड़ा नहीं होता ऊँच-नीच-आचरण से होता है।

आज भगवान् महावीर के अनुयायी अपने को परखें कि वे अपने प्रभु के इन उपदेशों पर स्थिर हैं या समय और वातावरण के बहाव में बह गये हैं। सच्चा अनुयायी वही होता है जो अपने आराध्य के उपदेशों पर आचरण करे अपने विवेक को जागृत रखे और परिस्थितियों के प्रवाह में न बहे।

आज के युग में जातिवाद के विरुद्ध पुनः जोरदार आवाज उठ रही है। समाज और राष्ट्र जागृति के दौर में चल रहा है। जातिवाद के पुराने आधार टूट गये हैं मानव-मानव आज फिर प्रेम से गले मिलने को आतुर है, एक राष्ट्र ही नहीं बल्कि समूचा संसार मानव मानव के बीच किसी प्रकार का रंग जाति और लिंग का भेदभाव स्वीकार करने को तैयार नहीं है। इन परिस्थितियों में भगवान् महावीर के अनुयायी अपना कर्तव्य समझें और जातिवाद के इस जहर को मिटाकर अपने को समतावादी और बन्धुतावादी जैन धर्म के सच्चे उपासक सिद्ध करें।

"वनस्पति मे भी हमारी ही तरह चेतना है, प्राण है और सुख दु ख की अनुभूति करने की क्षमता है।" जैन-धर्म का यह शाश्वत सिद्धांत कभी कुछ तार्किक और मनचले लोगों के उपहास का विषय था। पर आज प्रकृति विज्ञान की नवीन उपलब्धियों ने इस सिद्धान्त को अक्षरश सत्य सिद्ध कर दिया है। पढ़िए विज्ञान की उपलब्धियों के रोचक और आश्चर्यजनक प्रमाण।

३०

वनस्पति में जीव

वृक्षो और वनस्पतियो मे जीव होने की बात हम भारतवासी आज से नही हजार वर्षों से मानते आए हैं। हमारे तत्वदर्शी ज्ञानियों ने अपनी विकसित आत्म-शक्ति के द्वारा वनस्पतियो मे जीव होने की बात का पता बहुत पहले से ही लगा लिया था। जैन-धर्म मे तो स्थान-स्थान पर वृक्षो मे जीव होने की घोषणा की गई है। भगवान महावीर ने आचारांग सूत्र मे वनस्पति की तुलना मानव-शरीर से बतलाई है। आचाराग का भाव इन शब्दो मे प्रकट किया जा सकता है—

१ जिस प्रकार मनुष्य जन्म लेता है, युवा होता है और बूढा होता है उसी प्रकार वृक्ष भी तीनो अवस्थाओ का उपभोग करता है।

२ जिस प्रकार मनुष्य मे चेतना-शक्ति होती है, उसी प्रकार वृक्ष भी चेतना-शक्ति रखता है सुख-दु ख का अनुभव करता है। और आघात आदि सहन करता है।

३ जिस प्रकार मनुष्य सिकुडता है, कुम्हलाता है और अन्त मे

क्षीण होकर मर जाता है उसी प्रकार वृक्ष भी आयु की समाप्ति पर सिकुड़ता है कुम्हलाता है और अन्त में मर जाता है।

४ जिस प्रकार भोजन करने से मनुष्य का शरीर बढ़ता है और न मिलने से सूख जाता है उसी प्रकार वृक्ष भी खाद और पानी आदि की यथोचित खुराक मिलने से बढ़ता है विकास पाता है और उसके अभाव में सूख जाता है।

आज का युग विज्ञान का युग है। आजकल प्रत्येक बात की परीक्षा वैज्ञानिक प्रयोगों की कसौटी पर चढ़ाकर की जाती है। यदि विज्ञान की कसौटी पर बात खरी उतरती है तो मानी जाती है अन्यथा नहीं। जैन-धर्म की यह वृक्ष में जीव होने की बात पहले केवल मजाक की वस्तु समझी जाती थी परन्तु जब से डाक्टर जगदीश चन्द्र बसु[1] महोदय ने अपने अद्भुत आविष्कारों द्वारा यह सिद्ध किया है कि वृक्ष में जीव है तब से पुराने धर्मशास्त्रों की खिल्ली उड़ाने वाली जनता आश्चर्य चकित रह गई है।

वृक्ष और मानव शरीर

बसु महोदय के आविष्कारों से पता चला है कि हमारी ही तरह वृक्षों में भी जीवन है। भोजन पानी और हवा की जरूरत उन्हें भी पड़ती है। हमारी ही तरह वे भी जिन्दा रहते हैं और मरते हैं। हाँ इतना अवश्य है कि उनकी जीवन प्रक्रिया का तरीका हम से कुछ भिन्न है।

चलती हुई सांस देख कर ही मनुष्य को जीवित कहा जाता है। पेड़-पौधे भी इसी तरह सांस लेते हैं। और मजा यह है कि उनका सांस लेने का तरीका हम से बहुत मिलता-जुलता है। हम सिर्फ फेफड़े

---

१ जगदीशचन्द्र बसु १८५८-१९३७।

से ही सास नही लेते, प्रत्युत हमारे शरीर की त्वचा भी इस काम मे हमारी मदद करती है। ठीक इसी तरह पौधे भी अपने सारे शरीर से सांस लेते हैं। यह कितनी आश्चर्यजनक बात है कि बीज भी हवा मे सांस लेते हैं। ऐसे यन्त्र अब बन गए हैं कि जो ठीक नाप-तौल करके बतला देंगे कि अमुक बीजों ने हवा में से इतने समय मे इतनी ऑक्सीजन खींच ली है।

पौधो में स्मरण-शक्ति का भी अभाव नहीं है। यह बात सभी जानते हैं कि बहुत-से पौधे रात्रि के समीप आने पर अपने पत्तो को सिकोड लेते हैं और फल के डठल को नीचे झुका देते हैं। इसका कारण सूरज की अन्तिम किरणों का पौधो पर पडना बताया जाता है। लेकिन वैज्ञानिको ने प्रयोग करके देखा है कि अंधेरे कमरे में बन्द कर देन से भी, पौधे, ठीक सूर्यास्त के समय अपने पत्तो को समेटने लगते हैं और सूरज के उदय होते ही खिल उठते हैं। सच बात तो यह है कि पौधो क जीवन-कोषो को समय क परिवर्तन का स्मरण रहता है। रजनीगन्धा रात होते ही महकने लगती है।

मानव,स्वभाव से वृक्षों की समता

वैज्ञानिको ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि पौधे पशुओं की तरह सर्दी-गर्मी, दु ख-सुख आदि का ज्ञान भी रखते हैं। पौधो में प्यार तथा घृणा का भाव भी विद्यमान है। जो उनके साथ अच्छा व्यवहार करते है, उन्हे वे चाहते हैं और जो उनके साथ दुर्व्यहार करते हैं, उन्हें वे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। कुछ पौधे बहुत फैशन-पसन्द होते हैं। गुलाब का फूल तुरन्त बदबू का अनुमान कर लेता है, और अपनी पखुडियो को सिकोड लेता है। जरा मैले हाथो से कमल को छू दीजिए, वह मुर्झा जाएगा।

चोट लगने या छिल जाने पर जैसे हमे तकलीफ होती है, उसी

तरह पौधों को भी होती है। अन्य प्राणियों के समान वृक्षों के शरीर में भी स्नायु-जाल फैला रहता है। जैसे मनुष्य के किसी अंग में पीड़ा होने पर वह स्नायु-सूत्रों के द्वारा सारे शरीर में फैल जाती है वैसे ही वृक्षों के शरीर में भी आघात की उत्तेजना सर्वत्र फैल जाती है।

अपनी इन्द्रियों द्वारा पौधे सर्दी-गर्मी आदि का तो अनुभव करते ही हैं साथ ही विष और उत्तेजक पदार्थों का भी उन पर प्रभाव पड़ता है। डॉ॰ वसु ने एक यन्त्र ऐसा भी बनाया है जो मादक पौधों की बहकन का पता बताता है। शराब पीकर पौधे भी मस्त हो जाते हैं इस बात का पता इस यन्त्र की सहायता से सहज ही में लग सकता है। पौधे की जड़ में शराब डाल दो और फिर यन्त्र से उस पौधे का सम्बन्धित कर दो तो तुम देखोगे कि उसकी पत्तियों में पूर्वापेक्षा अब अधिक बहकन होने लगी है।

क्या मनुष्य और क्या पशु-पक्षी सभी दिन भर काम करने के बाद थक जाते हैं और रात में उन्हें आराम करने की जरूरत पड़ती है। पेड़-पौधे भी इसी प्रकार थककर रात में आराम करते हैं। सूरज के डूब जाने के बाद यदि तुम बाग में जाओ तो देखोगे कि पत्तियों का रंग-ढंग दिन जैसा नहीं है। ऐसा लगता है जैसे वे चुपचाप पड़ी सो रही हों। 'क्लोवर' नामक पौधे की पत्तियों में यह परिवर्तन बहुत साफ दिखाई देता है। उसकी पत्तियाँ रात के समय मुड़ कर तने से सट जाती हैं। भारतवर्ष में पाया जाने वाला 'टेलीग्राफ प्लांट' रात में पत्ती पर पत्ती रख कर सोता है।

पौधों की विचित्र हरकतें

जिस प्रकार मनुष्य के स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं उसी प्रकार वृक्षों के स्वभाव भी बहुत विचित्र प्रकार के होते हैं। कुछ वृक्ष ऐसे हैं जो मांसाहार भी करते हैं। मांसाहारी पौधों की लगभग पाँच-सौ

जातियाँ पाई गई हैं। एक पौधा 'ब्लैडर वर्ट' होता है, यह जल में रहने वाला है। इसके तने पर छोटे-छोटे थैले-से लगे रहते हैं। इन थैलों के मुँह पर एक दरवाजा-सा लगा रहता है। ज्यों ही कोई कीड़ा अन्दर पहुँचता है, त्यों ही दरवाजा अपने आप बन्द हो जाता है। बिचारा कीड़ा अन्दर ही-अन्दर छटपटा कर मर जाता है और उसका रक्त वह वृक्ष चूस लेता है।

अफ्रीका के घने जंगलों में ऐसे पेड़ पाये गये हैं, जो बड़े-बड़े जानवरों को भी दूर से अपना शाखा-जाल फैलाकर पकड़ लेते हैं। उनके शिकंजे से निकल भागना फिर असम्भव हो जाता है। ये पेड़ मनुष्यों को भी यथावसर चट कर जाते हैं। मनुष्य के पास आते ही वे उसको भी अपनी टहनियों से पकड़ लेते हैं और चारों ओर से टहनियों के बीच दबाकर रक्त चूस लेते हैं। कितना भयंकर कर्म है इनका! वृक्षों की सजीवता का यह प्रबल प्रमाण है।

पुनश्च

लेख का उपसंहार किया जा चुका है तथापि वनस्पति में जीव की सिद्धि के लिए अभी कुछ कहना शेष है। लेखक के सामने विश्वविहार नामक विज्ञान सम्बन्धी पुस्तक है, जिसमें इस सम्बन्ध की खासी अच्छी जानकारी सन्निहित है। पाठकों के ज्ञानवर्द्धन के लिए संक्षेप में उसका सार यहाँ देना [illegible] न होगा।

वृक्ष जानवरों से बहुत-सी बातों में मिलते हैं। इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि केवल जीवधारी ही अपने माता-पिता और पड़ोसियों का लक्षण ग्रहण करता है। अस्तु यदि पड़ोस स्वास्थ्यप्रद है, तो पौधे मजबूत और मोटे होंगे। और जिस तरह तन्दुरुस्त बच्चों स्त्रियों और पुरुषों की मुस्कराहट देखकर जाना जाता है कि ये स्वस्थ हैं उसी प्रकार पौधों की सुन्दर पत्तियों और बढ़िया फूलों से मालूम हो जाता है कि इन्हें अनुकूल पड़ोस मिला है।

जीवित रहने के लिए हमें साँस लेने की जरूरत होती है। यही बात पौधों के लिए भी लागू होती है। पौधों को यदि आक्सीजन अर्थात् प्राणप्रद वायु न मिले तो वह सूख कर नष्ट हो जायेगा। जिस प्रकार हम अपने नथनों के द्वारा हवा को अन्दर खींचते हैं उसी प्रकार पौधे भी। यद्यपि पौधों के साँस लेने वाले छिद्र इतने छोटे होते हैं कि उन्हें देखने के लिए अणुवीक्षण यन्त्र की आवश्यकता होती है। जन्म लेते ही प्रत्येक वस्तु और पौधे का पहला काम साँस लेना है और यह उसके जीवन के अन्त तक जारी रहता है।

पौधों की लड़ाई भी जानवरों की लड़ाई की तरह ही भयानक होती है। एक या दो महीने तक यदि फुलवाड़ी में कोई काम न किया जाए, तो नागर मोथा आदि बड़े बड़े जंगली पौधे उपजकर कर फसल के दुर्बल पौधों को मार देते हैं। हम प्रायः यह देखते हैं कि बहुत सी लताएँ और बेलें वृक्षों पर चढ़ कर उन्हीं पर अपनी जड़ जमा लेती हैं अथवा उनसे खुराक प्राप्त करती हैं, जिससे वृक्ष कमजोर होकर एक दिन समाप्त हो जाते हैं।

जिस तरह जानवरों में नर और मादा होते हैं उसी प्रकार पौधों में भी नर और मादा होते हैं जिनसे बच्चों की तरह पौधों का जन्म होता है।

जानवर एक खास समय तक काम करने के बाद आराम चाहते हैं। इसी प्रकार पौधे भी साधारणतः दिन में ही काम करते हैं अर्थात् जमीन से अपनी खुराक खींचते हैं और उसे खाने के काम में लाते हैं। सूर्यास्त के बाद वे अपना काम बन्द कर देते हैं और जिस तरह जानवर सोते हैं वैसे ही वे भी आराम करते हैं।

जानवरों की तरह पौधे भी आपस में खूब स्पर्द्धा करते हैं और अन्त में वही जीत कर जड़ जमा लेता है, जो सबसे अधिक मजबूत होता है।

यदि आप इन बातो पर अच्छी तरह विचार करेंगे, तो आप पौधो के साथ भी वैसा ही व्यवहार करने लगेंगे, जैसा कि अपने जानवरो या बच्चो के साथ करते हैं। भगवान् महावीर ने वृक्षों के प्रति भी दयालुलता के व्यवहार का उपदेश दिया है और गृहस्थो को भी वनस्पति के उन्मूलन से रोका है। आज के युग मे तो वृक्ष एक राष्ट्रीय सम्पत्ति के रूप मे माने जा रहे हैं, और उन्हें व्यर्थ ही नष्ट करना कुचलना राष्ट्र की दृष्टि से भी वर्जनीय है और और नैतिक दृष्टि से भी।

३१

> जैन-धर्म परलोक का धर्म ही नहीं इस लोक का भी धर्म है। इसमें सेवा समर्पण और सहयोग की महान् प्रेरणाएँ छिपी हैं। सेवा उसका उत्कृष्ट आदर्श है। सेवा और समर्पण की संस्कृति का शास्त्रीय आधार पर विशद विवेचन प्रस्तुत अध्याय में किया गया है।

जैन-संस्कृति में सेवा भाव

जैन-संस्कृति की आधार-शिला प्रधानतया निवृत्ति है अतः उसमें त्याग वैराग्य तप और तितिक्षा आदि पर जितना अधिक बल दिया गया है उतना और किसी नियम-विशेष या सिद्धान्त-विशेष पर नहीं। परन्तु जैन-धर्म की निवृत्ति साधक को जन-सेवा की ओर अधिक-से अधिक आकर्षित करने के लिए है। जैन-धर्म का आदर्श ही यह है कि प्रत्येक प्राणी एक दूसरे की सेवा करे सहायता करे और जैसी भी अपनी योग्यता तथा शक्ति हो उसी के अनुसार दूसरों के काम आए। जैन-धर्म में जीवात्मा का लक्षण[1] ही पारमार्थिक माना गया है वैयक्तिक नहीं। प्रत्येक सांसारिक प्राणी अपने सीमित वैयक्तिक रूप में अपूर्ण है उसकी पूर्णता आस-पास के समाज में और संघ में निहित है। यही कारण है कि जैन-संस्कृति का जितना अधिक झुकाव आध्यात्मिक साधना के प्रति है उतना ही ग्राम नगर और राष्ट्र के प्रति भी है। ग्राम नगर और राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यों को जैन-साहित्य

१ परस्परोपग्रहो जीवानाम्—तत्त्वार्थाधिगमसूत्र ५, २१।

मे धर्म[1] का रूप दिया गया है। भगवान् महावीर ने अपने धर्म प्रवचनो मे ग्राम धर्म, नगर-धर्म और राष्ट्र-धर्म को बहुत ऊँचा स्थान दिया है। उन्होने आध्यात्मिक क्रिया-काण्ड-प्रधान जैन-धर्म के बाद ही रखा है, पहले नही। एक सभ्य नागरिक एव राष्ट्र-भक्त ही सच्चा जैन हो सकता है, दूसरा नही। उक्त विवेचन के विद्यमान रहते यह कैसे कहा जा सकता है कि—जैन-धर्म एकान्त निवृत्ति प्रधान है अथवा उसका एकमात्र उद्देश्य परलोक ही है, इह लोक नही।' जैन धर्म उधार धर्म नही है, अपितु नकद धर्म है। वह इस लोक और परलोक—दोनो को ही शानदार बनाने की सत्प्रेरणा प्रदान करता है।

समर्पण का सकल्प

जैन गृहस्थ जब प्रात काल उठता है तो वह तीनो बातो[2] का चिन्तन करता है उनमे सबसे पहला यही सकल्प है कि मैं अपने धन का जन-समाज की सेवा के लिए कब त्याग करूँगा? वह दिन धन्य होगा जब मेरे सग्रह का उपयोग जन-समाज के लिए होगा, दीन दुखिया के लिए होगा। भगवान महावीर का यह आघोष हमारी निद्रा भग करने के लिए पर्याप्त है कि—'असविभागी न हु तस्स मुक्खो[3] मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने सग्रह के उपभोग का अधिकारी अपने आप को ही न समझ, प्रत्युत, अपने आस-पास के साथियो को भी अपने बराबर का अधिकारी माने। जो मनुष्य अपने साधना का स्वय ही उपभोग करता है, उसमें से दूसरो की सेवा के

---

१ स्थानाग सूत्र दशमस्थान।

२ स्थानाग सूत्र ३, ४, २१

३ दशवैकालिक सूत्र ६, २ २३।

लिए कुछ भी अर्पण नहीं करना चाहता वह अपने बन्धनों को तोड़ कर कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

जैन-धर्म में माने गये मूल आठ कर्मों में मोहनीय कर्म का स्थान बड़ा ही भयंकर है। आत्मा का जितना अधिक पतन मोहनीय कर्म के द्वारा होता है उतना और किसी कर्म से नहीं। मोहनीय कर्म के सबसे अन्तिम उग्र रूप को महामोहनीय कहते हैं। उसके तीस भेदों में से पच्चीसवाँ भेद[1] यह है कि—'यदि आपका साथी बीमार है या किसी घोर संकट में पड़ा हुआ है और आप उसकी सहायता या सेवा करने में समर्थ हैं फिर भी यदि आप सेवा न करें और यह विचार करें कि इसने कभी मेरा काम तो किया नहीं मैं ही इसका काम क्यों करूं? कष्ट पाता है तो पाए अपनी बला से मुझे क्या? भगवान् महावीर ने अपने चम्पापुर के धर्म प्रवचन में स्पष्ट ही इस सम्बन्ध में कहा है कि—'जो मनुष्य इस प्रकार अपने कर्तव्य के प्रति उदासीन होता है वह धर्म से सर्वथा पतित हो जाता है। मत्त क्रूर विचारों के पाप के कारण वह ७० कोटाकोटि सागर तक चिरकाल जन्म-मरण के चक्र में भटकता रहेगा सत्य के प्रति अभिमुख न हो सकेगा।

सेवा का महान् फल

गृहस्थ ही नहीं साधु वर्ग को भी सेवा धर्म का बड़ी कठोरता से पालन करना होता है। भगवान् महावीर ने कहा है कि—'यदि कोई साधु अपने बीमार या संकटापन्न साथी को छोड़कर तपश्चरण करने लग जाता है आत्म-चिन्तन में संलग्न हो जाता है तो वह अपराधी है, संघ में रहने योग्य नहीं है। उसे एक सौ बीस उपवासों का प्रायश्चित लेना पड़ता अन्यथा उसकी शुद्धि नहीं हो सकती। इतना ही

---

१ दशाश्रुतस्कन्ध नवम दशा।

नही, एक गाव मे कोई साधु बीमार पडा हो और दूसरा साधु जानता हुआ भी गाँव से वाहर ही वाहर एक गाँव से दूसरे गाँव मे चला जाए, रोगी के सेवा के लिए गाँव मे न आए तो वह भी अपराधी है[1] उग्र दण्ड का अधिकारी है। भगवान् महावीर का कहना है कि 'सेवा स्वय एक वडा भारी तप है।[2] अत जब भी कभी सेवा करने का पवित्र अवसर मिले तो उसे नहीं छोडना चाहिए। सच्चा जैन वह है, जो सेवा करने के लिए सदा आर्तों की, दीन दुखियो की, पतितो एव दलित की सुधि लेता रहता है।[3]

स्थानाग सूत्र में भगवान् महावीर की आठ महाशिक्षाऍं वडी प्रसिद्ध हैं उनमे पाचवी शिक्षा यह है कि—'असगहीयपरिजणस्स सगिण्हयाए अब्भुट्ठेयव्व भवइ।[4] जो अनाश्रित है, निराधार है, कही भी जीवन-यापन के लिए उचित स्थान नही पा रहा है, उसे तुम आश्रय दो, सहारा दो उसकी जीवन यात्रा के लिए यथोचित प्रबन्ध करो। जैन-गृहस्थ का द्वार प्रत्येक असहाय के लिए खुला रहता है।[5] वहाँ किसी भी जाति, कुल देश या धर्म के भेद-भाव के विना मानव-मात्र के लिए एक समान आदर भाव है आश्रय स्थान है।

एक बात और भी वडे महत्व की है। इस बात ने तो सेवा का स्थान बहुत ही ऊँचा कर दिया है। जैन-धर्म मे सबसे बडा और ऊँचा पद तीर्थङ्कर माना गया है। तीर्थङ्कर होने का अर्थ यह है कि वह साधक समाज का पूजनीय महापुरुष देवाधिदेव वन जाता है। भग-

---

१ निशीथ सूत्र उद्देशक ४।

२ उत्तराध्ययन, तपोमार्ग अध्ययन।

३ औपपातिक सूत्र, पीठिका

४ स्थानाग सूत्र ८ ६१।

५ भगवती सूत्र श० २ उ० ४।

वान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर दोनों तीर्थंकर थे। भगवान् महावीर ने अपने जीवन के अन्तिम प्रवचन में सेवा का महत्त्व बताते हुए कहा है कि—'वेयावच्चेण तित्थयर नामगोत्तं कम्मं निबन्धइ'[1]। अर्थात् वैयावृत्त्य करने से सेवा करने से तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है। साधारण जन-समाज में सेवा की प्रतिष्ठा के लिए भगवान् महावीर का यह उदात्त प्रवचन कितना महनीय है।

जन-सेवा ही जिन-सेवा है

आचार्य हरिभद्र और कमलसंयम ने भगवान् महावीर तथा गौतम का एक बहुत सुन्दर संवाद हमारे सामने प्रस्तुत किया है। संवाद में भगवान् महावीर ने दुःखियों की सेवा को अपनी सेवा की अपेक्षा भी अधिक महत्त्व दिया है। संवाद का विस्तृत एवं स्पष्ट रूप इस प्रकार है—

श्री इन्द्रभूति गौतम ने—जो भगवान् महावीर के सबसे बड़े गणधर थे—भगवान् महावीर से पूछा—'भगवन्! एक भक्त दिन-रात आपकी सेवा करता है, आपकी पूजा-अर्चना करता है, फलतः उसे दूसरे दीन दुःखियों की सेवा के लिए अवकाश नहीं मिल पाता। दूसरा भक्त दीन-दुःखियों की सेवा करता है, सहायता करता है, जन-सेवा में स्वयं को भुला मिटा देता है, जन-जीवन पर दया का वर्षण करता है, फलतः उसे आपकी सेवा के लिए अवकाश नहीं मिल पाता। भंते! दोनों में आपकी ओर से धन्यवाद का पात्र कौन है और दोनों में श्रेष्ठ कौन है?"

भगवान् महावीर ने प्रभुबोधक-भरे स्वर में उत्तर दिया—"गौतम! जो दीन-दुःखियों की सेवा करता है, वह श्रेष्ठ है, वही मेरे धन्यवाद

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र २९, ४३।

का पात्र है और वही मेरा सच्चा पुजारी है।"[1] गौतम विचार मे पड गए कि यह क्या ? भगवान् की सेवा के सामने अपने ही दुष्कर्मों से दु खित पापात्माओ की सेवा का क्या महत्व ? धन्यवाद तो भगवान के सेवक को मिलना चाहिए। गौतम ने जिज्ञासा भरे स्वर मे पूछा—"भन्ते ! कुछ समझ मे नही आया ? दुखितो की सेवा की अपेक्षा तो आपकी सेवा का अधिक महत्व होना चाहिए ? कहाँ तीन लोक के नाथ पवित्रात्मा आप और कहाँ ससार के वे पामर प्राणी, जो अपने ही कृतकर्मों का फल भोग रहे हैं ?"

भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम ! मेरी सेवा, मेरी आज्ञा के पालन करने मे ही तो है। इसके अतिरिक्त अपनी व्यक्तिगत सेवा के लिए तो मेरे पास कोई स्थान ही नही है। मेरी सबसे बडी आज्ञा यही है कि दु खित जन-समाज की सेवा की जाय उसे सुख-शान्ति पहुँचाई जाय। प्राणि-मात्र पर दया-भाव रखा जाय। अत दुखियो की सेवा करने वाला मेरी आज्ञा का पालक है। गौतम ! इसलिए मैं कहता हूँ कि दुखियो की सेवा करने वाला ही धन्य है, श्रेष्ठ है, मेरी निजी सेवा करने वाला नहीं। मेरा निजी सेवक सिद्धान्त की अपेक्षा व्यक्तिगत मोह मे अधिक उलझा हुआ है।"

यह भव्य आदर्श है—नर सेवा मे नारायण-सेवा का, जन-सेवा मे जिन-सेवा का। जैन-सस्कृति के अन्तिम प्रकाशमान सूर्य भगवान् महावीर हैं, इनका यह प्रवचन सेवा के महत्व के लिए सबसे बडा ज्वलन्त प्रमाण है।

सेवा के महान् आदर्श

भगवान् महावीर दीक्षित होना चाहते हैं, तो अपनी सम्पत्ति को

---

१ आवश्यक सूत्र, (हारीभद्रीय टीका)
उत्तराध्ययन, (सर्वार्थसिद्धि टीका) परीषह अध्ययन।

गरीब प्रजा के हित के लिए दान करते हैं और एक वर्ष तक मुनि दीक्षा लेने के विचार को लम्बा कर देते हैं। एक वर्ष में अपार सम्पत्ति जन-सेवा के लिए अर्पित करना अपना प्रथम कर्तव्य समझते हैं। और मानव-जाति की आध्यात्मिक उन्नति करने से पहले उसकी भौतिक उन्नति करने में संलग्न रहते हैं।[1] दीक्षा लेने के पश्चात् भी उनके हृदय में दया का असीम पारावार तरंगित रहता है फलस्वरूप वे एक गरीब ब्राह्मण के दुःख से द्रवाई हो उठते हैं और उसे अपना एकमात्र प्रावरण-वस्त्र भी दे डालते हैं।

जैन सम्राट चन्द्रगुप्त भी सेवा क्षेत्र में पीछे नहीं रहे हैं। उनके प्रजा-हित के कार्य सर्वत्र सुप्रसिद्ध हैं। सम्राट सम्प्रति की जनसेवा भी कुछ कम नहीं है। जैन इतिहास का साधारण-से-साधारण विद्यार्थी भी जान सकता है कि सम्राट सम्प्रति के हृदय में जन-सेवा की भावना किस प्रकार कूट-कूट कर भरी हुई थी और किस प्रकार उन्होंने उसे कार्य-रूप में परिणत कर जैन-संस्कृति के गौरव को बढ़ा रखा था। कलिंग-चक्रवर्ती सम्राट् खारवेल और गुर्जरनरेश कुमारपाल भी सेवा-क्षेत्र में जैन-संस्कृति की मर्यादा को बराबर सुरक्षित रखते हैं। मध्यकाल में जगडूशाह पेथड़ और भामाशाह जैसे धन-कुबेर भी जन-समाज के कल्याण के लिए अपने सर्वस्व की आहुति दे डालते हैं और स्वयं धरमें के साथ रिक्त भाजन जैसी स्थिति में हो जाते हैं।

जैन-समाज ने जन समाज की क्या सेवा की है इसके लिए सुदूर इतिहास को अलग रहने दीजिए, केवल गुजरात मारवाड़ मेवाड़ या कर्नाटक आदि प्रान्तों का एक बार भ्रमण कर आइए, इधर-उधर

---

१ आचारांग महावीर जीवन।

२ आचार्य हेमचन्द्र और नेमिचन्द्र कृत महावीर चरित्र।

खण्डहरों के रूप मे पडे हुए ईंट-पत्थर पर नजर डालिए, पहाडो ः चट्टानो पर के शिलालेख पढ़िए, जहाँ-तहाँ देहात मे फैले हुए ज प्रवाद सुनिए, आपको मालूम हो जायगा कि जैन-सस्कृति क्या है त उसके साथ जन-सेवा का कितना अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। ज तक मैं समझ पाया हूँ सस्कृति व्यक्ति की नही होती, समाज की हो है, और समाज की सस्कृति का यह अर्थ है कि समाज अधिक-रे अधिक सेवा की भावना से ओत-प्रोत हो, उसमे द्वेष नही, प्रेम हे द्वैत नही, अद्वैत हो, एक रग-ढंग हो, एक रहन-सहन हो, एक प वार हो। सस्कृति का यह विशाल आदर्श जैन-सस्कृति में किस प्रका पूणतया घटित हुआ है, इसके लिए जैन-धर्म का गौरवपूर्ण उज्ज्व अतीत पूण रूपेण साक्षी है। मैं आशा करता हूँ, आज का वर्तमा जैन समाज भी अपने महान् अतीत के गौरव की रक्षा करेगा, और भार की वतमान विकट परिस्थिति मे विना किसी जात्ति, धम, कुल या दे के भेदभाव के दरिद्र-नारायण की सेवा मे आग्रणी वनेगा, और जन-सेव को ही भगवान् की सच्ची उपासना समझेगा।

× ×